श्रीमद्भगवद्गीता

[illegible] श्री माधव [illegible]

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः-अर्जुनविषादयोगः ।

संस्कृतमें अन्वयार्थबोधिनी व्याख्या, हिन्दीभाषामें अन्वयार्थ सरलार्थ एवं सविस्तर विवेचन ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

शुद्धां सनातनीमम्बां शोकमोहविनाशिनीम् ।
कृष्णस्वरूपिणीं गीतामिष्टदेवीं भजाम्यहम् ॥

सम्पादकः—
परिडत श्रीमाधव शर्म्मा ।
मु० खंभालिया-जामनगर स्टेट, (काठियावाड़) ।

मार्गशीर्ष शुक्ला ११ श्रीगीताजयन्ती । १९९२ } प्रथम संस्करण { मूल्य १।)

❀ प्राप्तिस्थान । ❀

१. श्रीगीतार्थप्रकाश कार्यालय ३५/१३, जंगमबाड़ी, (खारीकुआँके पास) काशी ।

२. राज्यगुरु भीणाभाई खीमजी मु० खंभालिया- जामनगर स्टेट, (काठियावाड़)

३. हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, हरिसन रोड, कलकत्ता ।

४. ज्ञानमण्डल पुस्तकालय, चौक, काशी ।

प्रथम संस्करण १०००

प्रकाशकः—

श्रीगीतार्थ-प्रकाश कार्य्यालय,

३५, १३, जंगमबाड़ी, काशी ।

मुद्रकः— श्रीवृन्द्राबन चन्द्र नाथ,

शुलभ फाईन आर्ट प्रेस, जंगमबाड़ी, काशी ।

नोटः—अधिक प्रति मँगवानेके लिये तथा किसी प्रकारकी सूचनाके लिये श्रीगीतार्थ-प्रकाश कार्य्यालयसे पत्र व्यवहार करना चाहिये ।

❀ समर्पणम् । ❀

(१)

श्रीकृष्णाय नमस्तस्मै गीतायामर्जुनाय यः ।
ब्रह्मप्राप्त्युपदेशेन स्वधर्मं समतिष्ठिपत् ॥

(२)

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥

(३)

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा,
बुद्ध्यात्मना वानुसृत स्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै,
नारायणायेति समर्पयामि ॥

(४)

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

विषयानुक्रमणिका ।

१.	श्रीभगवद्गीता माहात्म्यम् हिन्दी अनुवाद सहित		१
२.	श्रीभगवद्गीताका उपदेश	...	१७
३.	श्रीभगवद्गीता माहात्म्यम्	...	२०
४.	अष्टादशाध्यायका संक्षिप्तसार	...	२१
५.	श्रीभगवद्गीता पाठक्रम	...	४५
६.	श्रीभगवद्गीतामें छन्द	...	४६
७.	गीता सप्तशती	...	५०
८.	गीताका महत्व	...	५१
९.	शांकरभाष्योपक्रमणिका	...	५१
१०.	श्रीभगवद्गीताका समादर	...	५५
११.	श्रीभगवद्गीताके उपदेशक	...	५७
१२.	श्रीभगवद्गीताका श्रोता	...	५६
१३.	श्रीभगवद्गीताकी भूमिका		६५ से १०० तक
१४.	श्रीभगवद्गीता प्रथमोऽध्याय स्वतंत्र पृष्ठ है १ से प्रारंभ ।		

क्षमाप्रार्थना ।

श्रीभगवद्गीताके समान श्रेष्ठ ग्रन्थका मुद्रण तथा सम्पादन उत्तम रीतिसे होना चाहिये और अशुद्धि कुछ भी रहनी नहीं चाहिये; किन्तु प्रारंभिक साधन तथा द्रव्यसंकोचादिके कारण जो बन सका वह भगवत्प्रसाद लेकर आप महानुभावोंके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ इसे भगवत्प्रसाद समझकर शिरोधार्य करें । न्यूनतामें प्रमादादि कारण है तथा एक छोटेसे प्रेससे कार्य लिया जाता है यह भी ध्यानमें रखें । यदि इस भागका आदर हुआ, ग्रन्थमालाके स्थायि ५०० ग्राहक भी हो गये तो उत्तरोत्तर सम्पादन तथा प्रकाशन उत्तम स्वरूपमें होगा । न्यूनताके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ ।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्याय

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! एकत्र हुए इन कौरवोंको देख !

—पण्डित श्रीमाधव शर्मा

आत्म-निवेदन ।

सर्वोपनिषद्का सार, सर्व ज्ञानका सार, सर्व धर्मका सार एवं गूढ़ रहस्यमय इस गीताशास्त्रका महत्ता और इसका वास्तविक उपदेश समझनेके लिये दीर्घकालसे जो प्रयत्न किया गया है उसीका परिणाम यह "गीतार्थ-प्रकाश" विवेचनका प्रकाशन है। गीताके समान संसारमें अन्य कोई शास्त्र नहीं है और गीताका उपदेश ही जीवमात्रके कल्याणके लिए पर्याप्त है। यह दृढ़ निश्चय होनेसे इस शास्त्रके स्वाध्यायके निमित्त तथा इस शास्त्रके प्रचार के निमित्त अबतक जो कष्ट सहन करना पड़ा, बार-बार अर्थ-संकोच और शारीरिक तथा मानसिक वेदना भोगनी पड़ी है, इसको मैं जानता हूं किंवा मेरे भगवान ही जानते हैं। गीताकी धुनमें अनेकबार पूज्यजनोंकी तथा मित्रोंकी आज्ञा तथा सम्मति पर भी ध्यान नहीं दे सका। गीताकी धुनमें शरीरके स्वास्थ्य पर भी लक्ष्य नहीं रखा। लेखककी आत्म-कथा अति दीर्घ है उसके विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल यहां पर यही निवेदन करना है कि त्याग और तपश्चर्याके साथ श्री गीताजीका यथाशक्ति अनुशीलन किया गया है, और यह अनुशीलन आजीवन चालू रहे यह मनोकामना है। गीतानुशीलनका परिणाम तथा कारण यह "गीतार्थ-प्रकाश" विवरणका प्रकाशन है। परम सुशीला और जीवनसहचरी विदुषी धर्मपत्नी सौ० शिवकुंवर जो मेरे स्वाध्यायमें प्रधान सहायता देनेवाली थी, तथा जीवन निर्वाहमें साथ दे रही थी वह श्रीप्रभुके नित्यधाममें गयी अब मेरे जीवनका आधार मातेश्वरी इष्टदेवी गीताजी ही हैं। मेरे प्राणोंका संरक्षण और पोषण माता गीता ही कर रही है। दुःख और विपत्तिके समय भी मुझको यही आश्वासन दे रही है और मैं भी अपनी माननीया इस गीतामाताकी अल्पाल्प सेवामें अपने जीवनके अन्तिम श्वास पर्यन्त लगानेकी भावना कर रहा हूं माताकी पूजा और सेवा करते हुए जो प्रसाद प्राप्त

होता है उसका कुछ अंश आप बन्धुओं और बहिनोंको समर्पण करनेके उद्देश्यसे इस ग्रन्थ-मालाका प्रकाशन कर रहा हूं।

इस ग्रन्थमें गीताके अष्टादशाध्यायका सार काशी योगाश्रम द्वारा प्रकाशित परिव्राजक स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीके गीताके भीतर उन्हींके शिष्य परलोकगत स्वामी पूर्णानन्दजीके बंगला लेखका अनुवाद हैं। गीताके वक्ता तथा श्रोता ये लेख श्रीअरविंद घोषके बंगला लेखोंका अनुवाद है। कविता दो छपी है वह कल्याणसे उद्धृत है; इसके सिवाय गीताभ्यासियोंके ग्रन्थोंसे भी कचित् सहायता ली गई है एतदर्थ उन सभी महानुभावोंका मैं कृतज्ञ हूं। भगवान् श्रीकृष्ण और वेदव्यास जी तथा गीताके भाष्य टीकाकारोंका उपकार किन शब्दोंमें मानूं, उनका प्रसाद बांटनेके लिए मैं उद्यत हुआ हूं इसमें कुछ संकोच करूं अथवा पक्षपात करूं तो मैं ही इसका उत्तरदाता हूं। आप इसमेंसे सार मात्र ग्रहण करेंगे। श्रीमान् स्वामी बालानन्दजी काशीके सुप्रसिद्ध विद्वान् वयोवृद्ध महात्मा हैं और गं० स्व० जमनाबाई भी काशीवास करती हुई भगवद्भजनकर अपने जीवनको कृतार्थ कर रही हैं। यदि उनकी सहायताका उल्लेख न करूं तो मैं अकृतज्ञ समझा जाऊं। स्वास्थ्यकी विषमता के अवसरपर तथा योग्य स्थानकी चिन्ताके अवसरपर मुझे आपसे बहुत कुछ सहायता मिली है। श्रीगीतार्थ-प्रकाश ग्रन्थमालाके प्रधान संरक्षक एवं सहायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं महात्मा विद्वान् एवं भगवद्भक्त तथा स्वधर्मानुरागी सज्जनोंकी इस सत्कार्यके साथ सहानुभूति है संपादक भगवानकी प्रसन्नता, भक्तजनोंकी कृपा एवं आत्मसंतोषके निमित्त यह सेवा कर रहा है। सत्यसंकल्प भगवान् श्रीनन्दनन्दनकी दयासे यह सेवा पूर्ण हो इस भावनाके साथ यह आत्मनिवेदन पूर्ण करता हूं।

श्रीमाधव शर्मा

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुरागियोंसे प्रार्थना।

श्रीभगवद्गीता हिन्दुजातिका प्रधान एवं सर्वमान्य शास्त्र है। इसका शुद्धपाठ, अर्थादिके साथ ही इस शास्त्रका सम्पूर्ण उपदेश जान लेना हिन्दूमात्रका कर्तव्य है। हमने इस शास्त्रके प्रचार करनेके लिये विविध प्रवृत्तियोंका प्रारम्भ किया है उनमें श्रीभगवद्गीता ग्रन्थमाला भी है। इस ग्रन्थमालाकी नियमावली इस पुस्तकमें अन्यत्र दी गयी है उसे पढ़कर आप ग्राहक बनिये तथा अपने परिचितोंको भी ग्राहक बननेकी सूचना दीजिये तथा श्रीभगवद्गीताके श्रवणकी इच्छा हो तो मंदिरमें आवें। अपने स्थानपर श्रवण करनेकी इच्छा होने पर वैसा भी प्रबन्ध हो सकता है। श्रीकाशीपुरीमें 'गीताज्ञानमन्दिर' स्थापित कियागया है जहां पर गीताजीके स्वाध्याय तथा प्रचारका कार्य हो रहा है। ग्रन्थमालाके ग्राहक बनकर इस संस्थाको सहायता करें तथा धर्मोपदेश सम्पादन करें। इस महान् कार्यका प्रारंभ श्रीभगवानके आश्रयसे किया गया है। आपको इस भगवत्कार्यमें तन, मन और धनसे सहायता करनी उचित है। भगवानकी आज्ञा है कि

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

व्यवस्थापक—श्रीगीतार्थप्रकाश-ग्रन्थमाला।

३५।१३, जङ्गमवाड़ी, (खारी कुआंके पास) काशी।

केवल कवर पृष्ठ वैदिक प्रेस' ८० मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट कलकत्तामें छपा

श्रीभगवद्गीता-प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महती चमूम्।
व्यूढाँ द्रुपपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥
तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
सघोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वज ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेहं योद्धु कामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धे र्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षय कृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनित्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

तस्मादध्यायमाद्यं यः पठेद्वा संस्मरेद्द तथा ।
अभ्यासादस्य न भवेत् भवांभोधिः सुदुस्तरः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

श्रीभगवद्गीता

प्रथमाध्याय माहात्म्य ।

एक समय भगवान शंकर जगदम्बा महारानी पार्वतीको संसारके कल्याण करनेवाले श्री विष्णु भगवानके परम पावन चरित्र सुना रहे थे । उस समय पार्वतीने शंकरसे इसप्रकार कहा ।

पार्वती—प्राणनाथ ! आपकी कृपासे भक्तभावन भगवान विष्णुके यह पावन चरित्र मैंने सुने, अब मैं श्रीभगवद्गीताके माहात्म्यको भी सुना चाहती हूं, जिसे सुन इस जीवको भगवान विष्णुके चरणकमलोंकी अनपायिनी भक्ति प्राप्त होती है ।

शंकर—अतसीके फूलकी नाईं कांतिवाले, गरुड़की सवारी करनेवाले, शेषनागकी शय्या पर सोनेवाले अच्युत भगवान विष्णुको हम नमस्कार करते हैं । हे पार्वती ! एक समय भगवान विष्णु शेषनागकी शय्या पर विराजमान थे । संसार को आनन्द देने वाली लक्ष्मी उनकी सेवामें तत्पर थी । उस समय लक्ष्मीने भगवान विष्णुसे इस प्रकार पूछा—

लक्ष्मी - प्राणेश्वर ! आज आप किस कारण उदास हो, क्या आपको नींद तो नहीं आ रही है ?

विष्णु—मैं अपने माहेश्वर रूपको आज ध्यान लगा कर देख रहा हूं । इसी मेरे रूपको योगी लोग अपनी कुशाग्र बुद्धिके द्वारा देखते हैं । यही मेरा रूप वेदोंका सार है । यही अक्षर ज्योति है । यही अखण्ड आनन्दको देने वाला है । संसारका चर व अचर कोई भी पदार्थ इससे रहित नहीं । महर्षि वेदव्यासने इसीके सहारे वेदशास्त्ररूपी महासमुद्रका मथन कर गीताशास्त्रको निकाला था । हे प्रिये ! आज मैं इसी अपने रूपके आनन्दमें मग्न हूं और सोये हुए की नाईं तुझे दिखाई दे रहा हूं ।

लक्ष्मी—हे नाथ ! आपके इस वचनको सुन मुझे बड़ा ही

विस्मय हुआ है। हे हृषीकेश! योगी जन तो सदा आपके इसी रूपका ध्यान धरते हैं। क्या आपका और कोई माहेश्वर रूप भी है? हे प्राणवल्लभ! वह शीघ्र ही सुनाइये, मुझे सुननेकी बड़ी इच्छा है।

विष्णु—प्राणेश्वरि! यह जो रूप तू देख रही है यह मेरा असली रूप नहीं, यह तो सृष्टि, स्थिति और संहार इन मेरे तीन कर्मोंके जालोंसे बना हुआ मायामय है। मेरा तात्विक रूप तो इससे परे है। वह द्वैत और अद्वैतसे रहित है, भाव और अभाव से भिन्न है, आदि और अन्तसे विवर्जित है। शुद्ध है आनन्द स्वरूप है, आत्माकी एकतासे जाननेके योग्य है तथा श्रीगीतामें वर्णित है।

लक्ष्मी—हे देव देव! यदि आपका वह परमानन्द स्वरूप ऐसा है कि उसे वाणी वर्णन नहीं कर सकती, मन सोच नहीं सकता तो फिर गीता उसे कैसे बतला सकती हैं? कृपा कर मेरे इस संशयको दूर कीजिये।

भगवान—लक्ष्मि! गीता मेरे रूपको देखने वाली दृष्टि है मैं हो सबकी आत्मा हूं मैं ही पर हूं, मैं ही अपर हूं, मैं ही साक्षी हूं, मैं ही शिव हूं, मैं ही पंचवक्त्र हूं और मैं ही महेश्वर हूं। शब्द और अर्थ यह दोनों मेरे ही भेद हैं मेरा रचा हुआ यह संसार-रूपी पाश केवल गीताके वाक्यसे ही कट सकता है।

लक्ष्मी—स्वामिन्! आप कृपया इस गीता वाले रूपका एक एक अंग कहिये। इसका माहात्म्य और इस पर कोई इतिहास भी सुनाइए।

भगवान—हे प्रिये! सुन, श्रीगीताके पहिले पांच अध्याय तो उस मेरे रूपके पांच मुख हैं, छः से लेकर पन्द्रह तक दस अध्याय दस भुजायें हैं, सोलहवां अध्याय उदर है, और अन्तके दो अध्याय अर्थात् सत्रहवां तथा अठारहवां उस रूपके चरण हैं।

इस प्रकार अठारह अध्यायोंकी बनी हुई शब्दमयी यह ऐश्वरी मूर्त्ति केवल ज्ञानसे ही जानी जा सकती है, और बड़े २ पापोंके नाश करनेवाली है। इसलिये हे प्रिये! जो सुबुद्धि जीव इस गीताके अध्याय, आधे अध्याय, श्लोक अथवा उसके भी आधेका पाठ करता हैं वह सुशर्माकी नाईं मुक्ति पा लेता है।

लक्ष्मी—हे देव! सुशर्मा कौन था? उसकी जाति क्या थी? वह कौनसा कार्य करता था? उसकी मुक्ति कब, और किस प्रकार हुई?

भगवान—लक्ष्मि! सुन, एक ब्राह्मण कुलमें सुशर्मा नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बड़ा दुष्ट था और पापियोंका तो मानो सरदार ही था। पाठ, पूजा, ध्यान, जप, होम, अतिथि सेवा इनमें तो उसका जी न लगता; किन्तु विषयवासनाओं और पाप करनेमें वह सदा तत्पर रहता था। मद्य उसे बहुत प्यारा था। मांसके बिना वह रह ही नहीं सकता था, और व्यसनोंका तो कहना ही क्या? इस प्रकार पापोंमें लीन हो उस दुष्टने बहुत समय बिताया।

लक्ष्मी—महाराज! वह काम भी कुछ करता था?

भगवान—हां, उसका पत्तोंका रोजगार था, जंगलसे पत्ते ले आता, और अपना निर्वाह करता था। एक दिन जब वह पत्ते लाने गया मार्ग भूल कर जंगलमें ऋषियोंके आश्रमकी ओर चला गया। वहां जाकर ज्योंही उसने पत्ते इकट्ठा करना शुरु किया एक सांपने उसे डंस दिया और वह तत्काल ही मर गया। मरनेके अनन्तर वह चौरासीकी चक्कीमें खूब चूर २ हुआ, इस प्रकार भटकते हुए उसे बैलकी योनि मिली। जब वह बड़ा हुआ तो उसका मालिक उसे बेचनेके लिये बाजारमें ले आया, वहां उसे एक लंगड़े आदमीने मोल ले लिया। वह इस पर सवार हो अपना काम धंधा करता और पेट भरता था। इस

प्रकार उसकी सवारी देते हुए सात आठ वर्ष बीत गये। एक दिन उस लंगड़ेने उसे देर तक जोते रक्खा, और खूब जोरसे चलाया। फल यह हुआ कि वह बैल वेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, देखते ही देखते उसके सारे अंग अकड़ गये, आंखें पथरा गई, और मुखसे भाग निकलने लगी। कर्मोंकी गति बड़ी प्रबल है, न तो उसका प्राण ही निकलता था न उसे कुछ शांति ही मिलती थी। इस प्रकार जीवन और मृत्युके बीच वह त्रिशंकु की तरह लटक रहा था, उसकी यह आर्तदशा देख सड़क पर आने जाने वाले बहुतसे लोग जमा हो गये, सबका चित्त उसकी यह दशा देख कर द्रवित हो गया। सभी यही विचार करने लगे तथा भगवानसे प्रार्थना करने लगे कि इसका प्राण किसी प्रकार छूटे। कोई किसीसे कहता भाई तुम अपना पुण्य ही दो जिससे इसका प्राण किसी प्रकार छूटे, ऐसे ही करुणामय शब्द चारों तरफसे सुनाई दे रहे थे। कई मनुष्योंने अपने पिछले सत्कर्मोंको उसे दिया। सत्कर्मोंका दान करने वालोंमें एक गणिका भी थी, जिसने औरोंकी देखा-देखी अपने सत्कर्म भी दान दिये,, परन्तु उसे अपना कोई सत्कर्म याद नहीं था। सबके सामने ही उस बैलके प्राण पखेरु निकले तथा धर्मराजके नौकर उसे यमलोकमें ले गये, परन्तु यह फैसला हुआ कि यह पापी नहीं है, क्योंकि गणिकाके दिये हुए पुण्यसे यह अब पुण्यात्मा हो गया है। जब वहां इसे छोड़ दिया गया तो फिर इसका जन्म एक उच्च ब्राह्मणकुल में हुआ दिन प्रतिदिन यह शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी नांई बढ़ने लगा। इसे अपना पिछला सारा जन्म याद था, जब यह बड़ा हुआ तो एक दिन इसे उस गणिकाकी याद्द आई जिसने अपने पुण्यसे इसे बचाया था। यह शीघ्र ही उस गणिकाके पास गया तथा उस गणिकासे बोला कि हे गणिके! मैं वही जीव हूं जो पिछले जन्म

में बैल था, जिसे तूने अपना पुण्य देकर मुक्त किया था। अब मैं एक उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, मैं तेरे उपकारका बदला कभी भी नहीं उतार सकता। एक बात जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है वह कृपा करके मुझे बतला। गणिकाने कहा वह बात क्या है तू पूछ। इसने कहा वह पुण्य क्या था जो तूने मुझे दिया था ? गणिकाने उत्तर दिया मैं और कुछ नहीं जानती यह मेरा तोता पिञ्जड़ेमें पड़ा हुआ कुछ पाठ करता है उसे मैं सुनती हूं मैं जानती हूं कि उसके सुननेसे मुझे यह पुण्य मिला था। मैंने उसे ही तेरे निमित्त दिया था। फिर उन दोनोंने उस तोतेसे पूछा भाई तू भी अपनी कथा कह, उनसे इस प्रकार पूछे जाने पर तोता बोला—मैं पिछले जन्मसे एक बड़ा विद्वान था, परन्तु विद्वान् होने पर भी मैं गुणी पुरुषोंसे घृणा तथा ईर्षा करता था। मृत्युके पश्चात् मुझे घोर नरककी यातना सहनी पड़ी। मैं अपने सद्गुणोंकी सदा निन्दा करता था इससे जब नरक यातना भोग चुका तो मुझे यह तोतेका शरीर मिला। जब मैं कुछ बड़ा हुआ मेरे माता पिताने मुझे छोड़ दिया कुछ ऋषियोंके द्वारा पकड़कर मैं आश्रममें लाया गया। वह सब श्री गीताके प्रथम अध्यायका पाठ किया करते थे और मैं अपने पिंजरेमें बैठा सुना करता था। सुनते २ मुझे भी वह याद हो गया और मैं भी पाठ करने लगा। एक दिन एक चोर यहां आया और मुझे चुराकर ले आया तथा इस गणिकाके हाथ बेच दिया तबसे मैं रोज इसे श्रीगीताजीके प्रथम अध्यायका पाठ सुनाता हूं।

भगवान्—हे लक्ष्मी यह पहिले अध्यायका माहात्म्य मैंने तुम्हें सुनाया है, इसका जो मनुष्य प्रति दिन पाठ करता है उसे अवश्य ही मुक्ति मिलती है।

प्रथमाध्यायका उद्देश।

सद्यो मोक्षाधिकारी स भवति खलु यः पापभीरुर्वितृष्ण
स्तादृक्पार्थोऽस्ति तस्मान्निजकुलदलनाद्राज्यभोगान्निवृत्तः
मत्वैवं यादवेशोऽप्यनुपदमकरोद् ब्रह्मविद्योपदेशं
भूभृद्धर्मानुरूपं तदिदमभिहितं त्वादिमाध्यायकृत्यम्॥

पापभीरुता और वैराग्य प्राप्त होनेसे शीघ्र पुरुष मोक्षका अधिकारी होता है, अतएव स्वकुलके घातसे प्राप्त होनेवाला जो राज्यसुख है उनसे अर्जुन पापभिरुताके कारण निवृत्त हुआ है, यह समझकर श्रीकृष्ण क्षात्रधर्मके अनुरूप ब्रह्मज्ञानका उसे उपदेश करनेके लिये तुरन्त उद्यत हुए। (परमार्थप्रपा)

अहिंस्रस्यात्मजिज्ञासा दयार्द्रस्योपजायते।
तद्विरुद्धस्य नैवेति प्रथमादुपधारितम्॥

अहिंसक और दयार्द्र व्यक्तिको ही आत्म जि ासा उत्पन्न होती है, उससे विरुद्धाचरणवाले, अर्थात् हिंसक और निर्दय व्यक्तियोंको आत्मजिज्ञासा नहीं होती यह प्रथमाध्यायसे स्पष्ट हुआ है।

(श्री बलदेव विद्याभूषण)

तस्मादध्यायमाद्यं यः पठेद्वा संस्मरेत्तथा।
अभ्यासादस्य न भवेत् भवांभोधिः सुदुस्तरः।

अतएव जो मनुष्य प्रथमाध्यायका पाठ करता है और अर्थ चिंतन करता है उसको इस शास्त्रके अभ्याससे संसार-समुद्र पार करना कठिन नहीं होता है।

श्रीगीतार्थप्रकाश—द्वितीयाध्याय

द्वितीयाध्याय श्रीगीतार्थप्रकाश व्याख्या सहित तैयार हो रहा है शीघ्र ही प्रकाशित होगा। ग्राहक होनेके लिये आज ही पत्र लीखिए।

प्रथमाध्याय—विषयानुक्रम।

१ युद्धके विषयमें धृतराष्ट्रका प्रश्न।

२ धृतराष्ट्रकृत प्रश्नके उत्तरमें, द्रोणाचार्यके पास दुर्योधनके। गमनका वर्णन।

३ पाण्डवसेनाको देखनेके लिये गुरुसे दुर्योधनकी प्रार्थना

४—६ पाण्डवसेनाके प्रधान प्रधान महारथियोंके नाम।

७ अपनी सेनाके प्रधान प्रधान शूरवीरोंको जाननेके लिये गुरुसे दुर्योधनकी प्रार्थना।

८ दुर्योधनद्वारा अपनी सेनाके प्रधान प्रधान महारथियोंके नामोंका कथन।

९ दुर्योधनद्वारा अपनी सेनाके शूरवीरोंकी प्रशंसा।

१० दुर्योधनका पाण्डवसेनाकी अपेक्षा अपनी सेनाको अजेय बतलाना।

११ भीष्मकी रक्षाके लिये द्रोणादि शूरवीरोंके प्रति दुर्योधनकी प्रेरणा।

१२ दुर्योधनकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका गर्जकर शङ्ख बजाना।

१३ दुर्योधनकी सेनामें नाना प्रकारके बाजोंका भयंकर शब्द होना।

१४—१५ श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनद्वारा शङ्खोंका बजाया जाना।

१६ युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव द्वारा शङ्खोंका बजाया जाना।

१७—१८ पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान प्रधान योधाओंद्वारा शङ्खोंका बजाया जाना।

१९ पाण्डवसेनाका शङ्खध्वनिसे धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदयोंका विदीर्ण होना।

२०—२१ दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये तैयार देखकर दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करनेके लिये भगवान्के प्रति अर्जुनकी प्रेरणा।

२२—२३ दुर्योधनकी सेनामें आये हुए शूरवीरोंको देखनेके लिये अर्जुनका स्वेच्छा प्रगट करना।

२४--२५ भगवान्का दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा करना और अर्जुनके प्रति कौरवोंको देखनेके लिये आज्ञा देना।

२६—२७ अर्जुनका दोनों सेनामें स्थित हुए बान्धवोंको देखना।

२८—३० स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर अर्जुनके शरीर और मनमें कायरता और शोकजनित चिह्नोंके होनेका कथन।

३१ अर्जुनका विपरीत लक्षणोंको देखकर युद्धमें स्वजनोंको मारनेसे हानि समझना।

३२—३३ स्वजनबधसे मिलनेवाले राज्य, भोग और सुखादिक अर्जुनका न चाहना।

३४—३५ अर्जुनका त्रिलोकीके राज्यके लिये भी आर्यादि स्वजनोंको न मारनेकी इच्छा प्रगट करना।

३६ अर्जुनका अपने आततायी बान्धवोंको भी मारनेमें पाप समझना।

३७ स्वजनोंको न मारनेकी योग्यताका निरूपण।

३८—३९ लोभके कारण दुर्योधनादिकी कुलनाशक कर्ममें प्रवृति देखकर भी अर्जुनका अपने लिये उससे निवृति होनेको योग्य समझना।

४० कुलके नाशसे धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि।

४१ पापकी वृद्धिसे वर्णसंकरताकी उत्पत्ति।

४२ वर्णसंकरतासे पितरोंको नरककी प्राप्ति।

४३ वर्णसंकरकारक दोषोंसे जातिधर्म कुलधर्मका नाश

४४ कुलधर्मके नाशसे नरककी प्राप्ति।

४५ राज्यके लोभसे स्वजनोंको मारनेमें पाप समझकर अर्जुनका पश्चात्ताप करना।

४६ बिना सामना किये कौरवोंद्वारा मारे जानेमें अर्जुनका स्वकल्याण समझना।

४७ शोकयुक्त अर्जुनका धनुषबाण छोड़कर बैठना।

—०—

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीभगवद्‌गीतामाहात्म्यम् ।

शौनक उवाच—

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत् सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥१॥

शौनक ऋषि कहते हैं कि हे सूत ! प्रथम नारायणक्षेत्र-नैमिषारण्यमें महामुनि व्यासकथित गीता माहात्म्य मेरे प्रति आप यथावत् कहो ॥ १ ॥

सूत उवाच—

भद्रं भगवता पृष्ठं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥२॥

सूत पुराणी कहते हैं कि आपने उत्तम प्रश्न किया; क्योंकि परम गोपनीय गीता माहात्म्य कहने को कौन समर्थ है ? ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किंचित् कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥३॥

श्रीकृष्ण ही गीताका माहात्म्य सम्पूर्ण जानते हैं। अर्जुन कुछ फल जानते हैं। व्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य एवं जनक राजा ये भी कुछ माहात्म्य जानते हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्तयन्ति च ।
तस्मात् किंचित् वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान् मया श्रुतम् ॥४॥

अन्य लोग श्रवण द्वारा सुनकर लेशमात्र कहते हैं। अतएव मैने व्यासदेवके मुखसे सुना है उसमेंसे कुछ माहात्म्य कहता हूँ ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥५॥

समस्त उपनिषद् गौस्वरूप, श्रीगोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उसके दोग्धा, पृथातनय भक्तप्रवर अर्जुन वत्सस्वरूप सुधी-उत्तम-बुद्धिवाला उसका भोक्ता इस प्रकारका यह महत् गीतामृत दुग्ध स्वरूप है ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥६॥

जिन्होंने प्रथम अर्जुनका सारथीपन करते हुए लोकोपकारार्थ गीतामृतका दान किया उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥७॥

जो नर घोर संसारसागरको तरनेकी इच्छा करता है वह श्रीभगवद्गीतारूपी नावमें सम्यक् बैठकर अर्थात् गीताश्रय ग्रहण करके सुखपूर्वक पार उतर जाता है ॥ ८ ॥

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥८॥

जिसने सदैव अभ्यासयोग पूर्वक गीताज्ञानका श्रवण नहीं किया है और अपने मोक्षकी इच्छा करता है वह मूढात्मा बालकोंके समीप उपहास्यका पात्र होता है ॥ ८ ॥

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥९॥

जो लोग अहर्निश गीताशास्त्रका श्रवण तथा पाठ करते हैं वे मानव जानने योग्य नहीं वे साक्षात् देवतास्वरूप हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन संबोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्तितत्वं परं तत्र सगुणं वाथ निर्गुणम् ॥१०॥

भगवान् श्रीकृष्णने गीता ज्ञानके द्वारा अर्जुनको सम्यक् ज्ञान कहा है इसमें सगुण तथा निर्गुण परमभक्तितत्व कहा है ॥१०॥

सोपानाष्टादशैरेवं भुक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः ।
क्रमशश्चित्तशुद्धिः स्यात् प्रेमभक्त्यादिकर्मसु ॥११॥

गीताजीके भुक्तिमुक्तिप्रधान अष्टादशाध्यायरूप अष्टादश सोपानके द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि होती है और प्रेम तथा भक्ति आदिके साधनोंमें उन्नति होती है ॥११॥

साधोर्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥१२॥

गीतारूपी जलमें साधु पुरुषका स्नान संसारके मलका नाशक है। श्रद्धाहीनका वह कार्य हस्तिस्नानके समान वृथा है ॥१२॥

गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत् ॥१३॥

जो मनुष्य गीताका पढ़ना पढ़ाना नहीं जानता वह मनुष्य लोकमें मोघकर्म अर्थात् व्यर्थ कर्म करनेवाला होता है ॥१३॥

यस्माद् गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥१४॥

अतएव जो मनुष्य गीताको नहीं जानता उससे अधिक अधम कोई भी नहीं। उसके मनुष्य शरीरको धिक् है, उसके विज्ञानको धिक् है तथा उसके कुल-शीलको भी धिक् है ॥१४॥

गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धीक् शरीरं शुभं शीलं विभवं स्तद्गृहाश्रमम् ॥१५॥

जो मनुष्य गीताशास्त्रको नहीं जानता उससे अधिक अधम अन्य कोई नहीं हैं। उसके शरीर, शुभशील, वैभव तथा गृहाश्रमको धिक्कार है ॥१५॥

गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रारब्धं प्रतिष्ठाञ्च पूजां दानं महत्तमम् ॥१६॥

जो मनुष्य गीताशास्त्रको नहीं जानता उससे अधिक अधम अन्य कोई नहीं है, उसके प्रारब्ध, उसकी प्रतिष्ठा, उसकी पूजा, उसका दान और उसके महत्वको धिक्कार है ॥६१॥

गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः ।
धिक्तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥१७॥

जिसकी गीताशास्त्रमें मति नहीं हैं उसके समस्त कर्म निष्फल हैं। उसके ज्ञानदाताको धिक् है तथा उसके व्रत, निष्ठा, तप एवं यश को भी धिक्कार है ॥१७॥

गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तत् विध्द्यासुरसम्मतम् ॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ॥१८॥

जिसका गीतार्थपठन नहीं हैं उससे अधिक अधम जन अन्य कोई नहीं हैं। जो ज्ञान गीतामें नहीं कहा गया है उस ज्ञानको असुर-सम्मत समझना। वह ज्ञान व्यर्थ है, धर्मरहित है और वेदवेदान्त-गर्हित है ॥१८॥

तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥१९॥

अतएव यह गीता सर्वधर्ममयी है, सर्वज्ञान प्रदायिनी है, सर्व शास्त्रकी सारभूता तथा विशुद्ध होनेके साथ ही सर्वोपरि है ॥१९॥

योऽधिते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ।
स्वपन् जाग्रन् चलँस्तिष्ठन शत्रुभिर्न स हीयते ॥२०॥

जो मनुष्य विष्णुपर्व दिनमें, एकादशीके दिनमें गीताध्ययन करता है वह निद्रावस्था जाग्रदवस्था, चलनावस्था, किंवा स्थितावस्थामें शत्रुओंके द्वारा पराभव नहीं प्राप्त होता ॥२०॥

शालिग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठेद्गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥२१॥

शालिग्रामजीके समीप, देवमन्दिर, शिवालाय, तीर्थस्थान किंवा नदीतटपर गीतापाठ करने पर अवश्य सौभाग्य प्राप्ति होती है ॥२१॥

देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥२२॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण गीतापाठ से जिस प्रकार वेदपाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ, व्रतादि करनेसे तुष्ट नहीं होते ॥२२॥

गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
वेदशास्त्रपुराणादि तेनाधीतानि सर्वशः ॥२३॥

जिसने भक्तिभावयुक्त चित्तसे गीताध्ययन किया उसने वेद-शास्त्र पुराणादि सभी अध्ययन किया ॥२३॥

योगस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥२४॥

योगस्थानमें, सिद्धपीठमें, शालिग्रामके समीपमें, सज्जनोंकी सभा में, यज्ञस्थलमें एवं भगवद्भक्तोंके समीप गीतापाठ करनेसे परासिद्धि प्राप्त होती है ॥२४॥

गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।

क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥२५॥

जो मनुष्य प्रतिदिन गीताजीका पाठ और श्रवण करता है उसने दक्षिणा सहित अश्वमेधादि यज्ञ किये ॥२५॥

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम् ।

श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥२६॥

जो मनुष्य गीताजीके अर्थका श्रवण करता है, पाठ करता है तथा दूसरेके प्रति गीतार्थ श्रवण कराता है वह मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है ॥२६॥

गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात् ।

विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥२७॥

जो मनुष्य गीताजीकी शुद्धपुस्तकका दान आदरसहित विधि एवं भक्तिभावसे अधिकारीको अर्पण करता है उसकी भार्या प्रिया होती है ॥२७॥

यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः ।

दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥२८॥

गीतापुस्तकका दान करनेवाला, यश, सौभाग्य एवं आरोग्यको प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं । साथ ही वह देवताओंका प्रिय होकर परम सुखको भोगता है ॥२८॥

अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापगतं च यत् ।

नोपसर्पति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥२९॥

जिस घरमें गीताजीका पूजन होता है वहांपर अभिचारसे उत्पन्न होनेवाला दुःख तथा वरशापजनित दुःख पहुँच नहीं सकता ॥२९॥

तापत्रयोद्भवा पीड़ा नैव व्याधिर्भवत् क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिं नरकं न च ॥३०॥
विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन ।
भवेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् ॥३१॥

जिस घरमें गीताजीका पूजन होता है वहां त्रिविधतापजन्य पीड़ा और व्याधि कभी होती नहीं। शाप नहीं लगता, पाप नही होता, दुर्गति नहीं होती, नर्क नहीं होता, विस्फोटकादि देहमें बाधा नहीं करते। वह गृहस्थ श्रीकृष्ण भगवान्के चरणमें दास्यभाव एवं अव्यभिचारिणी भक्तिको प्राप्त करता है ॥३०-३१॥

जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह ।
प्रारब्धं भुंजतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥३२॥

जो मनुष्य प्रारब्धभोगके समय भी गीताभ्यासमें प्रीति रखता है उसके साथ समस्त जीवोंका सख्य होता है वह मुक्त तथा सुखी है इस जगतके कर्मोंमें वह लिप्त नहीं होता ॥३२॥

महापापातिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
न किंचित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३३॥

गीताध्ययन करनेवाला यदि महापाप तथा अतिपाप करता है फिर भी जिस प्रकार पद्मपत्र जलसे अलिप्त रहता है उसी प्रकार उसको वे स्पर्श नहीं कर सकते ॥३३॥

अनाचारोद्भवं पापं अवाच्यादिकृतञ्च यत् ।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा ॥३४॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥३५॥

अनाचारजनित पाप, अवाच्यादि कृत पाप, अभक्ष्यभक्षजनित पाप, अस्पर्श्यस्पर्शजनित पाप, ज्ञानाज्ञानकृत पाप, एवं नित्य इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले समस्त पाप गीतापाठसे उसी क्षण नाश हो जाते हैं ॥३४-३५॥

सर्वत्र प्रतिभुक्त्वा च प्रतिगृह्य च सर्वश: ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥३६॥

सर्वत्र भोजन करके तथा सर्वत्र प्रतिग्रह करके गीता पाठ करने वाला कभी लिप्त नहीं होता ॥३६॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानत: ।
गीतापाठेन चैकेन शुध्दस्फटिकवत् सदा ॥३७॥

रत्नपूर्णा सम्पूर्ण पृथ्वीका अविधि पूर्वक ग्रहण करके भी एक गीतापाठसे शुद्ध स्फटिक समान निर्मल हो जाता है ॥३७॥

यस्यान्त:करणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
स साग्निक: सदा जापी क्रियावान स च पण्डित: ॥३८॥
दर्शनीय: स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि ।
स एव याज्ञिको योगी सर्ववेदार्थदर्शक: ॥३९॥

जिसका अन्त:करण सदैव गीतामें रमण करता है वही साग्निक सदा जापक, क्रियावान् और पण्डित है। वही दर्शनीय, धनी, योगी ज्ञानी, याज्ञिक, याजक एवं सर्व वेदार्थदर्शक है ॥३८-३९॥

गीताया: पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥४०॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषऽपि सर्वदा ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षका: ॥४१॥

जिस स्थानमें गीताकी पुस्तक रहती हैं और जहां पर गीताका नित्यपाठ होता है उस स्थानमें प्रयागादि सर्वतीर्थ विराजते हैं । गीताध्ययन करनेवालेके देहमें सदा सर्वदा देहरक्षक समग्र देवगण, ऋषिगण एवं योगीगण शेषमें भी निवास करते हैं ॥४०-४१॥

गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥४२॥

जहां पर गीताके पाठादि होते हैं वहांपर श्रीबालकृष्ण गोपाल नारद एवं ध्रुव प्रभृति पार्षदगणके साथ शीघ्र सहायक होते हैं ॥४२॥

यत्र गीता विचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र श्रीकृष्णो भगवान् राधिका सह ॥४३॥

जहांपर गीताका विचार और पठन पाठन होता है वहांपर भगवान् श्रीकृष्ण राधिकाजी सहित आनन्दपूर्वक विराजते हैं ॥४३॥

श्रीभगवान् उवाच—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥४४॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा परम सार है, गीता मेरा अत्युग्र ज्ञान है और गीता मेरा अव्यय ज्ञान है ॥४४॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरु ॥४५॥

गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम गुप्त ज्ञान है, गीता मेरा परम गुरु है ॥४५॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीता ज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥४६॥

मैं गीताके आश्रय में रहता हूं, गीता मेरा परम गृह है, मैं गीता ज्ञानका सम्यक् आश्रय करके त्रिलोकीका पालन करता हूँ ॥४६॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्राक्षरा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥४७॥

गीता मेरी ब्रह्मरूपा परा विद्या है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं । गीता मेरी अर्धमात्रा क्षरा, परा और नित्य अनिर्वाच्य पदस्वरूपिणी है ॥४७॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्तनात् सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥४८॥

हे पाण्डव ! गीताके सकल गुह्यनाम करता हूँ उसे श्रवण करो, जिसके कथनसे समस्त पाप उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥४८॥

गंगा गीता च सावित्री सीता सत्या पतिव्रता ।
ब्रह्मावलिर्ब्रह्मविद्या त्रिसंध्या मुक्तिगेहिनी ॥४९॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥५०॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥५१॥

गङ्गा, गीता, सावित्री, सीता, सत्या, पतिव्रता, ब्रह्मावलि, ब्रह्मविद्या, त्रिसंध्या, मुक्तिगेहिनी, अर्द्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा, तत्वार्थज्ञानमञ्जरी. इन नामोंको जो नित्यप्रति स्थिर, मन से जपता है वह ज्ञान सिद्धिको प्राप्त करके अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है ॥४९-५०-५१॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥५२॥

जब सम्पूर्ण गीतापाठ करनेमें असमर्थ हो तब अर्धपाठ करे तो भी गोदान समान पुण्यको प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥५२॥

त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षड़ंसं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत् ॥५३॥

तृतीय भाग पाठ करनेवाला सोमयागका फल पाता है और षष्ठमांश जप करनेवाला गङ्गास्नानका फल प्राप्त करता है ॥५३॥

तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवम् ॥५४॥

नित्य प्रति इसी प्रकार दो अध्यायका पाठ करनेवाला इन्द्रलोकको प्राप्त कर वहां पर एक कल्प पर्यन्त वास करता है ॥५४॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रूद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥५५॥

जो मनुष्य भक्तियुक्त होकर नित्यप्रति एक अध्यायका पाठ करता है वह रुद्रका गण होकर दीर्घकाल पर्यंत वहां पर निवास करता है ॥५५॥

अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वंतरसमाः शतम् ॥५६॥

जो मनुष्य आधा अध्याय, अथवा अध्यायके चतुर्थांशका पाठ करता है वह सूर्य लोकको प्राप्त करके शतमन्वंतर पर्यंत वहां पर रहता है ॥५६॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम् ।
त्रिद्वयैकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा ॥५७॥

जो मनुष्य गीताका दश, सात, पांच, चार, तीन, दो एक अथवा आधे श्लोकका भी पाठ करता है वह अयुतवर्ष पर्यन्त चन्द्र लोकको प्राप्त होता है ॥५७॥

गीतार्थमेकपादञ्च श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥५८॥

जो मनुष्य एकपाद, एक श्लोक अथवा एक अध्यायके गीतार्थका स्मरण करता हुआ देहत्याग करता है वह परम पदको प्राप्त होता है ॥५८॥

गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागीभवेज्जनः ॥५९॥

यदि कोई मनुष्य महापातक युक्त होने पर भी अन्तकालमें गीताके अर्थ किंवा पाठका श्रवण करता है तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है ॥५९॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥६०॥

जो मनुष्य गीताकी पुस्तक पास में रहते प्राणत्याग करता है। वह वैकुण्ठ धामको प्राप्त होकर भगवान् श्रीविष्णुके साथ आनन्द भोग करता है ॥६०॥

गीताध्याय समायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥६१॥

गीताके एक अध्यायका पाठ करने वाला भी यदि शरीरका त्याग करेगा तो पुनः मनुष्य शरीर को प्राप्त करके गीताभ्यासकर उत्तम मुक्तिको प्राप्त होता है ॥६१॥

गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यत् यत् कर्म च सर्वत्र गीतापाठ प्रकीर्तिमत् ।
तत्तत् कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥६२॥

जो व्यक्ति मृत्युकालमें "गीता" इतना शब्द उच्चारण करता है उसकी सद्गति होती है । सर्वत्र किसी भी कर्मको करते समय यदि गीतापाठ किया जाय तो सर्व कर्म निर्दोष होकर पूर्णत्वको प्राप्त होता है ॥६२॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि ।
संतुष्ठाः पितरस्तस्य निरयाद् यान्ति स्वर्गतिम् ॥६३॥

जो मनुष्य पितृगणके उद्देशसे श्राद्ध में गीता पाठ करते हैं उनके पितृगण अवश्य नरकसे स्वर्ग के प्रति जाते हैं ॥६३॥

गीतापाठेन संतुष्ठाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥६४॥

श्राद्धतर्पणके समय गीता पाठसे संतुष्ठ हुये पितृगण अपने पुत्रोंको आशीर्वाद देते हुए पितृलोकमें गमन करते हैं ॥६४॥

गीतापुस्तकदानञ्च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक् कृतार्थो जायते जनः ६५॥॥

श्राद्धके दिन धेनुपुच्छके सहित गीताजीकी पुस्तकका दान करके कृतिजन सम्यक् रूपसे कृतार्थ होते हैं ॥६५॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः ।
दत्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥६६॥

जो मनुष्य गीताकी पुस्तक हेमसंयुक्त करके विद्वान् ब्राह्मणको दान करता है उसको पुनर्जन्म नहीं होता ॥६६॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति हि ।

स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥६७॥

जो मनुष्य गीताकी शतपुस्तकका दान करता है वह ब्रह्मलोक में गमन करता है उसका वहांसे पुनरागमन नहीं होता ॥६७॥

गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पमिता समाः ।

विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥६८॥

अन्तकालमें गीताके दानप्रभावसे सदा कल्पपरिमित वत्सर विष्णुलोक प्राप्त करके श्रीविष्णुके साथ आनंद भोग करते हैं ॥६८॥

सम्यक् श्रुत्वाच गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।

तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मनसेप्सितम् ॥६९॥

श्रीगीताजीका अच्छी तरहसे श्रवण करके जो मनुष्य गीता पुस्तकका दान करता है उसके ऊपर श्रीभगवान प्रसन्न होकर मनवांछित फल देते हैं ॥६९॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।

न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ।

हस्तात् त्यक्त्वाऽमृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥७०॥

हे भारत ! चातुरवर्णके भीतर मनुष्य देह को धारण करके जो लोग अमृतरूपिणी गीताका श्रवण नहीं करते वे प्राप्त अमृतको हाथ से फैंककर विष भोजन करते हैं ॥७०॥

जनः संसारदुःखार्तो गीताज्ञानं समालभेत ।

पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत् ॥७१॥

संसारके दुःखोंसे पीड़ित मनुष्यको जब गीताका ज्ञान प्राप्त होता है, तब उस गीतामृतके पानसे भक्ति पाकर सुखी होता है ॥७१॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥७२॥

जनकादि अनेक राजा श्रीभगवद्गीताका आश्रय करके जगत्में विख्यात हुये और अन्तमें परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥७२॥

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेसूच्चावचेसु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥७३॥

गीताके उच्चारण करनेमें मनुष्यके भीतर कोई भेदाभेदा नहीं है; क्योंकि समग्र ज्ञानमें गीता समान एवं ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥७३॥

योऽभिमानेन गर्वेण गीता निन्दां करोति च ।
समैति नरकं घोरं यावदाहूतसंप्लवम् ॥७४॥

जो मनुष्य अभिमानसे श्रीगीताजीकी निन्दा करता है वह प्रलय काल पर्यन्त घोर नरक में जाता है ॥७४॥

अहंकारेण मूढ़ात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुंभीपाकेषु पच्येत यावत् कल्पक्षयो भवेत् ॥७५॥

जो मूढ़ात्मा अहंकारके वशहोकर गीतार्थका आदर नहीं करता वह कल्पक्षय पर्यन्त कुंभीपाकमें पचता है ॥७५॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥७६॥

समीपमें गीताके अर्थका कथन होरहा है और उसको जो मनुष्य श्रवण नहीं करता वह अनेकवार शूकरयोनिको प्राप्त होता है ॥७६॥

चौर्यं कृत्वाच गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किंचित् पठनं च वृथा भवेत् ॥७७॥

जो मनुष्य गीताकी पुस्तककी चोरी करके उसे लाता है वह गीतापाठके फलको नहीं पाता, उसका पाठ व्यर्थ होता है ॥७७॥

य: श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥७८॥

जो मनुष्य गीताजीके अर्थका श्रवण करके परमार्थसे आनन्दित नहीं होता वह जगत्में प्रमत्तके परिश्रमके समान फलको नहीं पाता ॥७८॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥७९॥

श्रीभगवद्गीताका श्रवण करके परमात्माकी प्रसन्नताके लिये सुवर्ण, भोज्यपदार्थ एवं पट्टवस्त्र दानके भावसे निवेदन करै ॥७९॥

वाचकं पूजयेद् भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान हरिः ॥८०॥

श्रीभगवद्गीताकी कथा कहने वालेका भक्तिपूर्वक द्रव्यवस्त्रादि विविध पदार्थोंसे अनेक प्रकार प्रसन्नता पूर्वक पूजा करै इससे भगवान् प्रसन्न हो ऐसी भावना करै ॥८०॥

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग् भवेत् ॥८१॥

सूत पुराणी कहते हैं कि गीताजीका यह श्रीकृष्ण भगवान् के द्वारा कहे हुए माहात्म्यका जो गीताके अन्तमें पाठ करता है वह यथोक्त फलभागी होता है ॥८१॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथापाठफलं तस्य श्रम एव उदाहृतः ॥८२॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥८३॥

श्रीगीताजीका पाठ करके जो मनुष्य माहात्म्यका पाठ नहीं करता उसके पाठका फल व्यर्थ जाता है और उसका पाठ श्रममात्र है। जो मनुष्य इस माहात्म्यके साथ गीतापाठ करता है और श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है वह परमगति को प्राप्त होता है ॥८२-८३॥

श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत् सर्वसुखावहम् ॥८४॥

जो मनुष्य अर्थ सहित गीताजीका श्रवण करता है उसको इस लोकमें सर्वसुखकारक पुण्यका फल प्राप्त होता है ॥८४॥

इतिश्रीवैष्णवीयतन्त्रे श्रीमद्भगवद्गीता-
माहात्म्यं समाप्तम् ।

श्रीभगवद्गीताका उपदेश ।

कुरुक्षेत्र रणक्षेत्र समरकी भेरी धमकी,
हुआ दुंदुभीनाद खड्ग वीरोंकी चमकी,
नरसिंहे बहु वाद्य शंख नाना बजते थे,
विविध भांतिके साज सुभट रणके सजते थे,
उसी समय कुल नाशके भय से धनुको छोड़ कर,
रथमें अर्जुन युद्धसे बैठ गया मुंह मोड़कर ॥१॥

योगीराजने तभी बहाई अमृत धारा,
कायरता कर नष्ट सभी संशय संहारा,
अविनाशी है नित्य आत्मा बोले भगवन,
तू क्या करता सोच न होता उसका खण्डन,

जीना मरना धर्म है केवल नश्वर देहका,
जिसका निश्चय नाश फिर क्या करना संदेहका ॥२॥

नहीं अमर ये लोग मरे यदि तेरे मारे
तो क्या इसमें दोष धर्म तू अपना धारे,
निश्चयात्मिका बुद्धि बना कर्मराय कहाना,
क्षात्रधर्मको छोड़ न अपना नाम डुबाना,
मरने पर अपवर्ग सुख नहीं मरा तो राज्य है,
असमय की यह भीरुता अर्जुन तुझको त्याज्य है ॥३॥

इच्छाओं को छोड़ कर्म निष्काम किये जा,
करनी धरनी सभी ईशको भेट दिये जा.
भक्तिभाव उर धार वही कल्याण करेंगे,
आत्मतुष्टि को देख व्यर्थका मोह हरेंगे,
कर्ता तो कोई नहीं तू किसको है मारता,
प्रकृति गुणोंका योग यह अहंकार क्यों धारता ? ॥४॥

नहीं कर्म बिन किये कर्मका बन्धन कटता,
प्रकृति कराती कर्म कोई इससे कब हटता,
यही कर्मका त्याग कर्म के संग न जाना,
फल की इच्छा छोड़ सदा कर्तव्य निभाना,
पद्मपत्र जल बिन्दुसी संगति आठो याम है,
कर्मों में फंसता नही जगमें जो निष्काम है ॥६॥

अमर ज्योति सन्देश सुना जब योगेश्वर से,
रही न ममता लेश कहा जनने नटवर से,
शिष्य तुम्हारा नाथ शरण में तेरी आया,
मिटा सभी भ्रम फंद सत्यका रूप सुहाया,
कृत निश्चय संग्राम हित मैं होता हूं अग्रसर,
धर्म युद्धसे पग हटै अब मरकर या मारकर ॥७॥

जिसका सुन उपदेश जगत सोते हैं
खोते सारा क्लेश मोह से जो रोते हैं,
शुद्ध हृदय के द्वार खोलकर शान्ति दिलावे
ज्ञान पिपासा देख ज्ञान की सुधा पिलावे
सञ्जीवनी बूटी सरिस गुण गौरव की खान है ।
पड़ती गीता ज्ञानसे निर्जीवोंमें जान है ॥
जीवनका आदर्श दिखाती भगवद्गीता ।
कर्मयोग उत्कर्ष सिखाती भगवद्गीता ॥
अमरतत्व का भेद बताती भगवद्गीता ।
दुर्बल मन का खेद हटाती भगवद्गीता ॥
धर्मयुद्धका होरहा गीतामें जयघोष है ।
शूर करै कर्तव्यका फल कुछ हो निर्दोष है ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम् ।

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥१॥

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥२॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥३॥

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥४॥

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥५॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥६॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एकोमन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥७॥

श्रीभगवद्गीता।

अष्टादशाध्यायका संक्षिप्त सार।

१ अध्याय-विषादयोग

अविवेक पूर्वक कर्ममें प्रवृत्त होने पर वह प्रवृत्ति विषादमें परिणत होती है। मनुष्य प्रवृत्तिके द्वारा परिचालित होकर कभीभी तृप्तिप्राप्त नहीं करसकता; अतएव दुर्योधनकी युद्धप्रवृत्तिने विषमय फल उत्पन्न किया था। राज्यकी प्राप्तिके निमित्त युद्धोद्यमने प्रथम अर्जुनको भी विषादयुक्त किया था। आत्मीय स्वजन वधके लिये कुलक्षयादिकी चिन्तामें अर्जुनका चित्त विकल हुआ था। अविवेक ही इस प्रकारके विषादका एकमात्र कारण है; किन्तु अन्तमें भगवान्के शरणागत अर्जुनका वह विषाद शोकमोहके नाशका कारण हुआ, जिससे भगवानकी कृपासे अर्जुनको राज्यकी प्राप्तिकी कामनाके स्थानमें क्षत्रियो-चित्त कर्तव्यबुद्धि उत्पन्न हुई। इसी कारणसे अर्जुनका विषाद चित्तशुद्धिका हेतुभुत निष्कामकर्मका सुदृढ़ आधारस्थानीय होकर गौणीभक्तिरूप कर्मयोगका सूचक हुआ है। विषादके कारण अर्जुन प्रथम चित्तको विक्षेप करनेवाले सकाम कर्मके करनेसे बिरत हुआ था, सुतरां चित्तनिवृत्तिरूप योगलक्षण भी उसके अन्तर्निविष्ट रहा है; किन्तु भगवानकी कृपासे वह केवल सामान्य मात्र चित्तनिरोधका कारण न होकर निष्काम कर्मके द्वारा चित्तको परम शान्ति-भगवच्छरणागति प्राप्तिका उपाय स्वरूप हुआ; संक्षेपमें कहा जाय तो गीता-प्रथमाध्यायमें वर्णित

विषाद अर्थात् शोक भी योग संज्ञासे सुप्रसिद्ध हुआ है।

२ अध्याय-सांख्ययोग

कर्मके प्रारंभ करनेके पूर्व ही उसका लक्ष्य निश्चित करना आवश्यक है। विवेक और विचार पूर्वक कर्ममें प्रवृत्त न होनेसे कर्मके द्वारा केवल क्लेश ही प्राप्त होता है। इसी लिये गीताके सूत्ररूप द्वितीयाध्यायमें मनुष्यजीवनका लक्ष्य निर्णीत हुआ है।

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे"

यह अर्द्ध श्लोक गीताशास्त्रके बीजरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होनेपर आत्मज्ञान होनेसे शोक मोह दूर हो जाता है। इसी लिये आत्मा नित्य निर्लिप्त और अवध्य है। यह श्रीभगवान्ने प्रथम प्रतिपादन करते हुए कर्म करनेके लिये अर्जुनका उत्साह बढ़ाया है। संक्षेपमें आत्माका अकर्तृत्व और स्वधर्म पालनमें निर्दोषिता समझायी है। सकाम और निष्काम व्यक्तिके कर्म प्रवृत्तिके भेद द्वारा सकाम व्यक्तिकी बुद्धि अस्थिर और निष्काम व्यक्तिकी बुद्धि निश्चल यह भी प्रदर्शित किया है। निष्काम कर्म करते करते चित्तकी चंचलता नष्ट होने पर, स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है। स्थितप्रज्ञ पुरुषका ही कर्म साधन सार्थक है; वह अन्तरमें परमात्मस्वरूप को प्रकट करके विषय वासना विहीन रहता है। सकाम कर्मी अयोगी और निष्काम पुरुष योग की कुशलतासे भगवत्सक्षात्कार करके शान्ति सम्पादन करता है। इस प्रकार कर्मानुष्ठानका उद्देश विचार पूर्वक इस सांख्ययोगमें उपदिष्ट है।

३ अध्याय-कर्मयोग

शुद्धचित्त व्यक्ति सदसद् विचारके द्वारा निष्काम भावसे कर्तव्यके अनुष्ठान पूर्वक योगका अन्तिम लक्ष्य लाभ कर सकता है ; किन्तु जिसका प्रवत्तिवेग शान्त नहीं हुआ है वह यथार्थ विचार करने में असमर्थ है । अधिकारके अनुसार कर्मानुष्ठान पूर्वक अन्तःकरणको सत्वगुण प्रधान नहीं कर सकने पर प्रकृत विचार करनेको कोई भी समर्थ नहीं हो सकता । इस लिये विषयासक्त मनसे कर्मत्याग करने पर भी योगका फल प्राप्त नही होता । आसक्ति हीन कर्मी ही यथार्थ योगी । परमात्माकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रकृतिके अनुकूल अनुष्ठान करने से प्रवृत्ति का बेग स्वतः संयत होजाता है । कर्मफल की कामना रहने से ही कर्तृत्वबोध के निमित्त कर्म बन्धन का कारण होता है, किन्तु कामना का त्याग करने से कर्मके द्वारा ही चित्त शुद्ध होता है और योग का फल तत्वज्ञान लाभ होता है । प्रकृतिजात त्रिगुण ही कर्मका कारण है इस निश्चयपूर्बक जो अपनेको अकर्ता जानकर ईश्वरार्थ स्वधर्म पालन रूप कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होता है उस भगवच्छरणागत साधकका कर्म "योग" नामसे कहा जाता है । कामना ही पापप्रवृत्तिका कारण होनेसे अन्तरस्थ आत्मस्वरूप भगवानमें मनोनिवेश पूर्वक कर्तव्य कर्मका अनुष्ठान करने पर कामनाका नाश होता है । निष्काम भावसे शुभकर्म करते रहनेसे उसका स्वभाव सिद्ध फल प्राप्त होता है यही नहीं; किन्तु अनुष्ठान करने वाला योगका फल और भगवान् में एकनिष्ठाको भी प्राप्त करसकेगा ।

४ अध्याय-ज्ञानयोग

विचार पूर्वक निष्काम कर्म करते करते चित्तशुद्धिके द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये जो सनातन योगक्रम प्रचलित होरहा है उसका प्रकृत उद्देश सदुपदेष्टाके अभावसे लोकमें विस्मृत होरहा था। इसी लिये भगवानने पुनः उसका मानवसमाजके हितार्थ अर्जुनको उपदेश किया। प्रकृतिके गुण और कर्मभेदसे सकल जीवमें पार्थक्य देखनेमें आता है। मनुष्य भी प्रकृतिके गुणानुसार प्रधानतः चार श्रेणिमें विभक्त होरहे हैं। योगकी कुशलताके साथ अर्थात् अन्तः करणकी शुद्धिके उद्देशसे अपनी प्रकृतिके अनुकूल कर्म करने पर ही सुफल प्राप्त होता है। कर्मानुष्ठानके समय कर्मके उद्देश विषयकज्ञान न रहनेसे किस प्रकार विहित कर्महो विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्ममें परिणत होता है और स्वस्व वर्णाश्रमोचित कर्म आत्माके अकर्तृत्व ज्ञानसहित अनुष्ठित होने पर किस प्रकार अकर्म अर्थात् कर्मसन्यासके फलदानमें समर्थ होता है यह सहजमें समझा नहीं जासकता इस लिये केवल कर्मानुष्ठानकी अपेक्षा विचार पूर्वक कर्मानुष्ठान अधिक कल्याणकारक है। भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्यकी विविध प्रवृत्ति के अनुरूप द्वादश प्रकारके यज्ञ अर्थात् कर्मका उपदेश देकर ज्ञान योगकी चित्त शुद्धिके लिये विचारपूर्वक कर्मानुष्ठानकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हैं। तत्वज्ञ महापुरुषोंके उपदेशमें श्रद्धावान् हो कर विविध व्रत, तपस्या, चित्तनिरोध अथवा प्राणामायादि जो कुछ किया जाय वह योग है; किन्तु अविचारके साथ कर्म योगका फल देनेको अर्थात् संशयच्छेदन पूर्वक कर्मबन्धनको विनाश

नहीं कर सकता। साधु महात्माओंकी कृपासे शास्त्रके यथार्थ ज्ञानपूर्वक अकर्तृत्व भावसे निष्काम कर्मानुष्ठानसे ही आत्मज्ञानका विकाश होता है इसीसे ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता है। ज्ञानपूर्वक भगवदर्थ कर्म करनेसे मनोनिवृत्ति और आत्मज्ञानजनित शान्ति प्राप्त होती है। यह सब इस अध्यायमें स्पष्ट है।

५ अध्याय-संन्यासयोग

विचारपूर्वक कर्म करनेसे कर्मानुष्ठानका उद्देश चित्तशुद्धि और शान्ति उभय लाभ होते हैं और कर्मसंन्यास (कर्मफल त्याग) द्वारा चित्त भगवानके प्रति आकृष्ट होता है; किन्तु अविवेक पूर्वक चित्तशुद्धिके पूर्वमें कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) करनेसे विपरीत फल प्राप्त होता है और उससे योग सिद्ध नहीं होता। मलिनचित्त भगवानके अकर्तृत्वभावको अवधारण नहीं कर सकनेके कारण केवल बाहरसे कर्मत्याग पूर्वक अन्तरमें विषयकामनाके द्वारा बन्धनदशाग्रस्त होता है। सर्वलोक महेश्वर भगवानको स्वरूपतः अकर्ता जानकर जो शास्त्रानुगत विचार सहित उसमें एकनिष्ठ होकर कर्मफल त्यागमें समर्थ होता है वही कर्मसंन्यासका सुख प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष उसीमें चित्तको स्थिर कर इन्द्रियभोगमें अनासक्त और विषयकामनाके परित्याग करनेमें समर्थ होता है। प्राणापानादिके संयमके द्वारा मनको विषयविचारशून्य किया जासकता है; किन्तु कर्म फल संन्यासमें वह अत्यन्त सहजमें सिद्ध होता है। इसलिये कर्मसंन्यास भी योग नामसे कहा गया है। प्राणायामके द्वारा चित्तका निरोध करना हो तो कामक्रोधादिके वेगसंयमके लिये

पृथक् चेष्टा करनी होगी; किंतु जो ईश्वरमें कर्मफल समर्पण पूर्वक कर्मसंन्यास योगका अनुष्ठान करता है उसका कामक्रोधादिके वेगका संयम करनेके लिये किसी तरह दूसरी चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भगवानकी कृपासे वह परमशांतिको प्राप्त करता है। इस रीतिसे प्राणायामकी अपेक्षा संन्यासयोगकी श्रेष्ठता इस अध्यायमें स्पष्ट की गयी है।

६ अध्याय-ध्यानयोग

कर्मफलका त्याग यही यथार्थ संन्यास अथवा योग है; क्योंकि कर्मफलका संन्यास अर्थात् त्याग होनेसे योगका फल-भगवन्निष्ठाका विकाश होता है। योगकी प्रथमावस्थामें कर्मका ही अभ्यास करना चाहिये अंतमें वह कर्मत्याग ही साधनका अंग हो जायगा। कर्मत्यागमें अभ्यस्त होने से क्रमपूर्वक कर्मप्रवृत्ति संयत हो जाती है। और उसी समय यथार्थ ध्यान सिद्ध हो सकता है। श्रीपरमेश्वरके निमित्त निष्कामभावसे शुभकर्मके अनुष्ठान द्वारा मन विषयाशक्तिशून्य होने पर ध्यान ही योगरूप से अनुष्ठित हो सकता है। ध्यानयोगके अनुकूल स्थान, आसन आहार विहारादि का एक मात्र उद्देश मनकी एकाग्रता। इस लिये ध्यानस्थ चित्तको वायुरहित स्थानमें रही हुई दीपशिखाके समान निश्चल रखनेकी बात कही गयी है। अभ्यास और वैराग्य ही मनकी एकाग्रता करनेमें सहायता करते हैं। इस अध्यायमें योगदर्शनोक्त चित्तवृत्तिनिरोधके प्रधान २ उपायोंका उल्लेख रहने पर भी ध्यानयोगमें केवल चित्तनिरोध ही लक्ष्य नही हैं, मनको आत्मसंस्थ करनेके लिये यही कहना भगवानका

उद्देश्य है। योगदर्शनमें चित्तके निरोधकी प्रधानता है; किन्तु भगवदुपदिष्ट ध्यानयोगमें मनकी आत्मचैतन्यमें अविच्छिन्न स्थिति अर्थात् ब्रह्मस्वरूपताका परमसुख ही एकमात्र लक्ष्य है। चित्तवृत्तिके निरोधरूप योगमें अकृतकार्य होनेसे जन्मांतरमें आशंका है; किन्तु आत्मस्थ भगवानमें मनको निविष्ट करके ध्यानयोगका अभ्यास करनेसे साधकको ब्रह्मलोकमें गति और क्रममुक्ति प्राप्त होती है; क्योंकि चित्तनिरोध मात्र उसका लक्ष्य नही हैं। भगवानमें स्थिति प्राप्त करना उसके ध्यानका लक्ष्य है अतएव आत्मध्यान भी योगरूपसे इस अध्यायमें वर्णित है।

ईश्वरार्थ कर्म ही योग अर्थात् भगवत्साक्षात्कारके निमित्त चित्तशुद्धिका प्रथम सोपान है, इस लिये प्रथम षट्कमें कर्मयोग के विविध क्रम वर्णन किये हैं। (१) विषादमें ही ईश्वरार्थकर्म-प्रवृत्ति अंकुरित होती है। (२) सांख्यज्ञान (विवेक विचार अर्थात् आत्म अनात्म विचार) में कर्तव्यका निश्चय होता है। (३) शास्त्र विहित कर्म ही चित्तशुद्धिके द्वारा ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान-में प्रवृत्तिकी दृढ़ता सम्पादन करता है। (४) यही पुनः विचार पूर्वक होने पर कर्ममें निष्कामता और ईश्वरमें कर्मफल समर्पण करनेकी शक्ति उत्पन्न कराता है। (५) क्रमशः कर्मसंन्यास (कर्मफलत्याग) द्वारा चित्त शान्त होने पर (६) आत्मसंस्थ होने के लिये ध्यान योगका अधिकार प्राप्त हो जाता है। गीताके प्रथम षट्कमें उपदिष्ट योगका अभ्यास करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है इस प्रकार "त्वं" पदार्थका विवेक अर्थात् ध्यानयोगका अभ्यास करनेसे देहातिरिक्त जीवात्माके अस्तित्वका निश्चय होता है।

७ अध्याय-विज्ञानयोग

श्रीभगवानके परमार्थस्वरूपके विशेष ज्ञानके द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, इसी लिये तत्सम्बन्धी विज्ञान भी योग नामसे कहा गया है। भगवानकी माया-प्रकृतिके प्रभावसे वे जगतमें विविध रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। प्रकृतिके तीन गुणसे मोहित होकर जीवगण जगतके आश्रयस्वरूप भगवान्को जान नहीं सकते। एकमात्र उनके शरणागत होनेसे ही मायासे मुक्त हो सकते हैं। भक्तिके द्वारा ही भगवानको प्राप्त करना सुलभ है। अन्यथा आसुर प्रकृति पुरुष उसे किसी प्रकार जान नहीं सकता। चित्तशुद्धिके तारतम्यसे भक्तिमें भी पार्थक्य देखनेमें आता है अतएव भगवद्भक्तगण आर्तादि भेदसे चार श्रेणिमें विभक्त है। इन चारोमें ज्ञानी भक्त ही जन्मजन्मांतरके सुकृतबलसे भगवानमें एकनिष्ठा प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी भक्त भगवानको अत्यंत प्रिय है और ज्ञानी भक्तको भगवान् परम प्रिय है। प्रेम और ज्ञानमें पार्थक्य नहीं है। प्रियजनका विशेष ज्ञान (विज्ञान) न होने पर प्रेमकी दृढ़ता नहीं होती। अज्ञानीगण भगवानके स्वरूपको ग्रहण करनेमें असमर्थ रहते हैं इस लिये वे कामना-पूर्वक विभिन्न भाव से उसकी उपासना करके केवल क्षुद्र फलों-को पाप्त कर सकते हैं। सकाम व्यक्ति योगमायाके प्रभावसे भगवानके माहात्म्यको जान नहीं सकता; किन्तु ज्ञानीगण भक्ति-के द्वारा भगवानको जानते हैं और तदीय स्वरूपमें सम्मिलित होकर नित्यसुखको पाप्त कर सकते हैं। भगवानने सप्तम अध्यायमें यह स्पष्ट समझाया है।

८ अध्याय-अक्षरब्रह्मयोग

विज्ञानके द्वारा अक्षर (अर्थात् निर्विकार) ब्रह्मके स्वरूप तत्व (सर्वमयत्व) का निश्चय होनेसे उसको अहरहः अधियज्ञरूप से उपासना करते करते अंतिम समयमें उसके अक्षरस्वरूपमें ही स्थिति प्राप्त कर सकता है। प्राण और मनोनिरोधके अभ्यास सहित प्रणव स्मरण पूर्वक प्राणत्याग करने पर भी ब्रह्मस्वरूपताकी प्राप्ति होती है; किंतु जो अनन्य भक्तिके साथ एकमात्र भगवानकी ही चिरदिन कामना करते हैं वे अवश्य भगवत्स्वरूपताको प्राप्त करते हैं उसे फिर जन्मान्तर ग्रहण नहीं करना पड़ता। इस प्रकार भक्ति सहित भगवानमें तन्मयता ही अक्षरब्रह्म चैतन्य में नित्य स्थितिका सुगम उपाय है। अतएव केवल प्राण और मनोनिरोधकी चेष्टाकी अपेक्षा इस प्रकार भक्तिके साथ भगवदुपासना ही श्रेष्ठ योग है।

ब्रह्मलोकसे भी पुनरावृत्ति होती है; किंतु भगवत्स्वरूपके प्राप्त हो जाने पर पुनर्जन्मका भय नहीं रहता। प्राणायामादि योग साधनमें अकृतकार्य व्यक्ति की ब्रह्मलोकमें गति होनेपर भी जन्मान्तरकी संभावना रहती हैं। ब्रह्मलोकमें कोटीकल्पका अवस्थान भी अनन्तकालकी तुलनामें अत्यन्त अल्प है। माया-रचित ब्रह्मलोक भी अनित्य है; किन्तु अनन्यभक्तिसहित अक्षर ब्रह्मकी उपासनामें सर्व कारणके कारण भगवानके विशुद्ध ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। वेदाध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि पुण्य कार्य सकाम भावसे होने पर पितृयान मार्गके द्वारा स्वर्गादि लोकमें गति होती है और ब्रह्मयोगके अभ्याससे देवयानमार्ग

द्वारा ब्रह्मलोकमें गति होती है; अतएव सगुणब्रह्मकी उपासनाके फलसे क्रमशः ब्रह्मके गुणातीत स्वरूपमें नित्यस्थिति प्राप्त होती है।

९ अध्याय-राजविद्या राजगुह्ययोग

श्रीभगवानको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय उसकी भक्ति ही है। इस लिये अनन्य भक्ति ही राजविद्या एवं भक्तिका उपदेश ही गुह्यातिगुह्य होनेके कारण वह राजगुह्य। ब्रह्मविद्या की प्राप्तिके लिये भक्तियोग ही सुगम, क्योंकि प्रियतमके प्रति लक्ष्य स्थिर रहनेसे चित्तका विक्षेप स्वतः निवृत्त होजाता है। अतएव भक्ति ही "योग" होनेके कारण वह राजविद्या राजगुह्य योगरूपसे उपदिष्ट है। सृष्ट पदार्थ मात्र भगवानका मायिक विकाश मात्र है। ईश्वरके सिवाय अन्य किसीका भी पृथक् अस्तित्व नहीं हैं। यज्ञ और मन्त्रादि, कर्ता और करण, उत्पत्ति और प्रलय, अमृत और मृत्यु सत् और असत् सब कुछ भगवान्-इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिकी दृढ़ता होनेपर ईश्वमें एकनिष्ठाका उदय होता है। साधकगणमें से कोई उसका अभिन्नभावसे, कोई स्वतंत्रभावसे अथवा भिन्न भिन्न भावसे उपासना करते हैं। भक्त प्रेमके आवेशसे पत्र पुष्पादि जो कुछ पूजोपहार अर्पण करता है वह भगवानको अति प्रिय। भगवद्भक्तको जीवन धारणके लिये भी चिन्ता करनेका प्रयोजन नहीं हैं। श्रद्धाके साथ किसी भी देवताकी पूजा और सकाम यज्ञादिका अनुष्ठान करने पर भी भगवानकी कृपासे शुभफल और स्वर्गादि लाभ होता है; किन्तु उससे पुनर्जन्मादिकी निवृत्ति नहीं होती।

भगवानमें समस्त कर्तव्यकर्मके फलके समर्पण पूर्वक उसकी ही अनन्य भावसे उपासना करनेसे समस्त कामनाका क्षय होजाता है। केवल उसीकी चिंतामें उसीके भावमें मग्न होकर उसको ही नमस्कार करनेसे उसमें तन्मयता प्राप्तकर भक्त उसेही प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूजा करनेका अधिकार स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय सभीको समान रूपसे हैं। भगवद्-भक्तका विनाश नहीं होता जो भगवानका नित्यशरणागत है वही नित्यशान्तिको प्राप्तकर सकता है अतएव ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये अनन्य भक्ति ही राजविद्यायोग है।

१० अध्याय-विभूतियोग

श्रीभगवानके अनन्तभाव हैं उनमेंसे किसीभी एक भावमें मनोनिवेश होनेपर चित्तकी चंचलता सहजमें दूर हो जाती है। इस लिये भगवानने संक्षेपमें केवल शतविभूतिके उल्लेखपूर्वक चित्तशान्तिका उपाय निर्दिष्ट कर दिया है। अन्तर किंवा बाह्य किसी भी भावमें मन निरुद्ध होकर भगवद्भावमें आविष्ट हो सकता है। इसी लिये बुद्धि, ज्ञान, सत्य, शम, सुख, दुःख, स्मृति, मेधा, क्षमा, मौन, चेतना प्रभृति आन्तरभाव एवं विशेष विशेष व्यक्ति, विविध जीव, स्थावर और जंगम पदार्थ, देवता, ऋषि, वेदादि विद्या और मन्त्रादि भगवानकी विभूतिरूपसे वर्णित हुए हैं। भगवद्विभूति विषयक ज्ञानमें साधकका चित्त भगवानके भावसागरमें स्वतः निमग्न हो जाता है; जिससे विभूतिज्ञान "योगके" मध्यमें परिगणित हुआ है। अर्जुनने भी सर्वत्र अन्तरमें और बाहरमें भगवद्भावके चिन्तनार्थ भगवद्विभूति

श्रवण निमित्त भगवान्के समीपमें प्रार्थना की थी।

भगवानकी विभूतिके ज्ञानसे साधक सर्व पदार्थमें भगवानका विकाश देखकर भगवद्भावमें आविष्ट होता है। साधक सर्वावस्थामें उसीकी महिमाके कीर्तनपूर्वक शांति प्राप्त करता है। इस प्रकार तन्मयचित्तवाला साधकगण ही प्रेमके द्वारा भगवानको स्वरूपतः प्राप्त होता है और भगवानस्वयं कृपाके परवश होकर उसके अंतरमें ही स्वस्वरूपका प्रकाश करते हैं। अनंत जगद्विकाश भगवानके असीम महिमाके क्षुद्रातिक्षुद्र अंशकी मात्र धारणा होनेसे भक्त साधक विभूतियोगमें भगवानकी कृपाको सहजमें प्राप्त करता है।

११ अध्याय-विश्वरूपदर्शनयोग

अर्जुनने भगवानके मुखारविंदसे उसकी समस्त विभूतिके विषयमें ज्ञान प्राप्त करके भी अपने निश्चयके लिये भगवानके सगुण रूपमें विश्वविकाश देखकर कृतार्थ होनेकी आशासे प्रार्थना की है। भगवानने भी कृपा पूर्वक मायिक विश्वविकाशके गूढ़ रहस्यको बतानेके लिये दिव्य दर्शनशक्तिके सञ्चार द्वारा उसको अनुगृहीत किया है। अर्जुनने भगवानके देवतनुमें समस्त विश्वका विकाश देखा। आदित्य, वसु, रुद्र, दानव, मानव, महर्षि, सिद्धपुरुष और समस्त भूतोंका समावेश तथा भगवानके अनंतमुख, नयन, आयुध, और आभरणादिकी अत्युज्ज्वलप्रभा सबकुछ अर्जुनकी दिव्यद्रिष्टिमें प्रकाशित हुए। भगवानको ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति और प्रलयका आश्रय देखकर अर्जुनका जगद्विषयका भ्रम दूर हो गया। वह भगवानके

महामहिमामय सर्वतोव्यापि भयंकर अत्युग्र महाकाल स्वरूपको देखकर निजकर्तृत्वके अभिमानको छोड़कर भगवानको ही उत्पत्ति, स्थिति और लयका एकमात्र कारण जानकर विस्मित और विह्वलचित्तसे उनका शरणागत बनकर क्षमा प्रार्थना करने लगा। भगवान अनन्य भक्तको एकनिष्ठ करनेके निमित्त इस प्रकारकी कृपा प्रकट किया करते हैं। भगवानके सिवाय विचित्रतामय इस दृश्य जगत का पृथक् अस्तित्व नहीं हैं, सुतरां मायिक विश्वका समस्त दृश्य भगवानकी विभूति। जगत् ब्रह्ममय विश्वब्रह्मांड भगवानका ही मायिक विकाश, यही अर्जुनको निश्चय हुआ। इस प्रकार विश्वरूप दर्शनयोगमें साधकके सर्वत्र अन्तरमें और बाहर भगवद्भावकी धारणा सुदृढ़ होती है। जगत में भगवानकी नित्य सत्ताके सिवाय अन्य कुछभी सत्य नहीं है; यह निश्चय होता है जिससे विश्वरूपदर्शनमें योगका फल अनन्य शरणागति सिद्ध हुआ।

१२ अध्याय-भक्तियोग

सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मका विकाश है इस प्रकारका निश्चय होने पर सगुण ब्रह्मके जिस किसी स्वरूपमें अथवा जिस किसी भावमें साधकका चित्त निश्चल हो सकता है। विशेषरूपसे जहां पर्यन्त देहात्मबुद्धि निवृत्त नहीं होती; वहां पर्यन्त सगुणोपासनामें ही शांतिकी संभावना है। अनन्य भक्तिकी प्राप्तिके लिये भक्त साधक श्रद्धा सहित बाह्य पूजादि भगवदर्थ कर्मानुष्ठान और भगवानमें कर्मफल समर्पणादि जो कुछ करता है उसीमें शांति प्राप्त होगी; क्योंकि भगवानमें अनन्यता लाभ ही उसका लक्ष्य।

कर्मानुष्ठान, ज्ञानाभ्यास और ध्यान साधनकी अपेक्षा कर्मफल त्यागरूप (वासनाक्षय) साधनमें ही विशेष शांति प्राप्त होती है।

सर्व जीवमें मैत्रीभाव और करुणा, संतोष, शुचिता, शोक आकांक्षा और शुभाशुभका परित्याग एवं शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सुख दुःख और निन्दा, स्तुतिमें समभाव इत्यादि ४० मानसिक संयम ही भक्तियोगका साधन है। इस प्रकार अभ्यास से ही मन वासनारहित होकर अनन्य भावसे ब्रह्मके विशुद्ध स्वरूपमें स्थिति और शांति प्राप्त कर सकता है। भगवानको प्रिय होना हो तो उन्हें प्रियतम भावसे अभिन्न आत्मसत्तामें प्राप्त करने के लिये भक्तियोगका अभ्यास ही उत्कृष्ट उपाय है। भगवानमें अनन्यता ही भक्तियोग, वही परब्रह्मके चिन्मय "तत्स्वरूप" को साक्षात् करने के लिये तन्मय होनेका यथार्थ उपाय। "स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते" आत्माके चिन्मयस्वरूपका अनुसंधान यही भक्तियोग।

(७) विज्ञानयोगके द्वारा जगतमें भगवत्सत्ताके विशेष ज्ञान प्राप्तिमें (८) अक्षर ब्रह्मयोगमें परमब्रह्मकी नित्यसत्तामें स्थितिकी उपाय प्राप्तिमें (९) राजविद्यायोगमें अनन्यभक्ति सहित भगवानमें आत्म समर्पण द्वारा (१०) विभूतियोगमें जगन्मय भगवानका समग्र विभूतिके स्मरण पूर्वक एकनिष्ठासे (११) विश्वरूपदर्शनयोगमें भगवत्सत्तामें ही समस्त विश्वकी नित्य स्थितिके निश्चय पूर्वक और (१२) भक्तियोगके अभ्यासमें मुमुक्षुसाधक अनन्य शरणागत होकर भगवानके नित्य शुद्ध "तत्" स्वरूपको प्राप्त कर कृतार्थ होता है।

१३ अध्याय-प्रकृतिपुरुष विवेकयोग

दिव्यद्रष्टिसे देखनेपर सम्पूर्ण एकमात्र परब्रह्मकी सत्तासे परिपूर्ण होरहा है; किंतु व्युत्थित अवस्थामें प्रकृति और पुरुषके जड़ और चेतनकी पृथकता अनुभवमें आती है। दृश्य जगत् और पञ्चभूतात्मक इन्द्रियादि युक्त स्थुल सूक्ष्म शरीरादि समस्त क्षेत्र प्रकृतिके विविध विकार और चेतन आत्मा ही क्षेत्रज्ञ-रूपसे सर्वत्र विद्यमान परब्रह्मका विशेष विशेप विकाश। सद-सत्से अतीत भगवान् एक होने परभी अनेक एवं उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण है इस प्रकारका विवेक ज्ञान प्राप्त करना हो तो अहिंसा, वैराग्य, अनाशक्ति और अनन्य भक्ति-रूप विंशति साधनका अभ्यास करना चाहिये। प्रकृति पुरुषके मायिक संयोगसे ही स्थावर जंगमरूप दृश्य जगतका विकाश होता है। यही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विक्षिप्त चित्तसे विभिन्न मालूम होने पर भी स्वरूपतः अभिन्न हैं; क्योंकि एकमात्र परमात्मा ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपसे-प्रकृति और पुरुषरूपसे प्रकाशित होते हैं। यही प्रकृति पुरुषके तत्वज्ञानके निमित्त ध्यान, आत्मानात्मविचार कर्म और उपासनादिका अनुष्ठान करना आवश्यक है। परमात्माके स्वरूपका निश्चय होने पर प्रकृतिपुरुषका मिथ्या संयोग ज्ञान अथवा भेदद्रष्टि तिरोहित होती है और शरीरस्थ क्षेत्रज्ञ आत्मा अकर्ता और परमात्मासे अभिन्न इस प्रकारके ज्ञानकी दृढ़ता होती है। इसीसे ही कैवल्य प्राप्ति और पुनर्जन्म-की निवत्ति होती है। प्रकृति पुरुष-विवेकके द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परमात्माका ही मायिक विकाश यह निश्चय होने से वह

'त्वं' और 'तत्' स्वरूप जीवब्रह्मका अभेद प्रतिपादक योग अथवा प्रेमकी पूर्णतामें जीवब्रह्मका स्वतःसिद्ध अभिन्नभाव विकाशका उपाय स्वरूप ।

१४ अध्याय-गुणत्रयविभागयोग

जीव ब्रह्मके अभेदभाव—साधनके लिये त्रिगुण विषयक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । गुणत्रयके विभाग और विकाश से ही जीव और जगतकी सृष्टि हुई है । ब्रह्म स्वरूप आत्मा गुणातीत और अकर्ता इस प्रकारके सिद्धान्तकी प्राप्तिके निमित्त गुणत्रयविभाग भी योगके अन्तर्निविष्ट हुआ ।

ब्रह्मका मायिक विकाश ही प्रकृतिके तीन गुण विभिन्न भावसे क्रिया करते हैं; किन्तु त्रिगुणकी क्रिया विषयका ज्ञान, कर्मप्रवृत्ति और मोहका विकाश होनेसे सुख दुःख और अज्ञानके प्रभावसे निर्लिप्त आत्मा आच्छन्न होने से जीवको बंधन होता है और आत्मामें त्रिगुणकी क्रियाका संस्कार आरोपित होता है जिससे जीवको स्वर्ग नरकादिमें गति और मनुष्य लोकमें जन्म होता है । अतएव गुणत्रयके कर्तृत्वको जानकर जो आत्माको सदैव अकर्ता समझता है और कार्यकालमें उदासीन और सर्वावस्थामें समभावसे स्थिति करता है वही गुणातीत पुरुष ही जन्ममत्युजरा दुःखसे मुक्ति पा सकता है; और उसको योगसिद्धि ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है । अनन्य भक्तियोगसे भगवत्प्रेममें अपने अस्तित्वका विसर्जनकर तन्मयता लाभ ही गुणत्रयविभागरूप योग साधनका सरल मार्ग है । यह बात इस अध्यायमें स्पष्ट है ।

१५ अध्याय-पुरुषोत्तमयोग

भक्तिभावसे भगवानके चिन्मय 'तत्' स्वरूपको प्राप्त करना यही गीताका सार है। परमात्मस्वरूप ही स्वमहिमामें मायाके प्रभावसे ऊर्ध्वाधः विस्तत रूपसे प्रतीत होता है। मायाप्रकृतिजात त्रिगुणके प्रभावसे ही उत्पत्ति, प्रलयादि और जीवको देह धारण एवं विविध भोग प्राप्त होते हैं। ज्ञानचक्षु योगीगण ही इस रहस्यको जान सकते हैं। सूर्य चन्द्रमादिका तेज, पृथ्वीकी शक्ति औषधिका रस, प्राणिदेहके प्राणापानादि समस्त ही परमात्माका प्रकाश। कार्यरूप क्षर और कारणरूप अक्षर माया उसीका द्विविध विकाश। वे परमात्मा स्वरूपमें अव्यय, वेही अपने परमधाम, उन्हींको प्राप्त करनेसे ही पुनरावत्तिकी निवृत्ति होती है। साधक अनन्यशरणागत होकर अनासक्तचित्तसे निष्काम भावसे उसके स्वरूपके चिन्तवनमें परायण रहनेसे सर्वान्तरात्मा भगवानको पुरुषोत्तमरूपसे प्राप्त करता है। भगवानका पुरुषोत्तम स्वरूप ही नित्य सिद्ध है और प्रेमकी अभिन्न भावसे उपासना करनेसे ही उसका चिन्मय 'तत्' स्वरूप प्रकाशित होता है। यह पुरुषोत्तमयोग ही संसार रूप अश्वत्थके छेदनका अमोघ अस्त्र और भगवानके परमात्म स्वरूपमें नित्य शांति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है।

१६ अध्याय-दैवासुरसंपद्विभागयोग

देहात्मबुद्धि तिरोहित नहीं होनेसे पुरुषोत्तमपदमें प्रतिष्ठा नहीं होती। स्थुलसूक्ष्मादि देहमें आत्माभिमान ही जीवको

आत्मस्वरूपके दर्शनमें बाधा देता है । जीवको अपनी चिन्मय सत्ताका निश्चय न होनेसे भगवानके आत्मस्वरूपमें-अभिन्न भाव से प्रकृति प्रेमके साथ उपासना करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती । इस लिये रजस्तमोगुणके पराभव पूर्वक सत्वगुणके विकाशकी चेष्टा करना आवश्यक है । दैवी प्रकृति युक्त मनुष्यमें सत्वगुणके प्राधान्यके कारण अभय, सत्वशुद्धि ज्ञान, स्वाध्याय, आर्जव, दान, दम, दया, अहिंसा, सत्य, शांति, धृति, क्षमा, शौचादि षड़विंशति शुभगुणका विकाश होता है और रजस्तम प्रधान आसुर जीवमें दम्भ, दर्प, अभिमान क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञानादि स्वतः प्रकाशित होते हैं । देवभावापन्न मानवगण ही निवृत्ति धर्मके अनुष्ठान पूर्वक चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानयोगके अधिकारी बनकर मुक्ति-भगवत्स्वरूपताको प्राप्त करता है और आसुरगण असत् कर्मके द्वारा बन्धनदशा-अधोगतिको प्राप्त होते हैं । श्रीभगवानने दूसरे, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें अध्यायमें भी दैवीसंपत्तिके विषयमें विशेषरूपसे कहा है । इस समय भगवानने आसुरभावकी निवृत्तिके निमित्त ही आसुरिक अनुष्ठान अधर्म, असत्य, अशौच, अविश्वास, असंयम, अशुचिता, दम्भ मद, नास्तिकता अन्याय पूर्वक अर्थसञ्चय, अनर्थक पराक्रम प्रकाश, भोग, ऐश्वर्योन्मत्तता धन और मानके लिये योग यज्ञादिके दोषोंका उल्लेख किया है । आसुरिक अनुष्ठानसे नरकके त्रिविध द्वाररूप काम, क्रोध एवं लोभकी वद्धि होती है । अतएव शास्त्रानुसार सात्विक धर्म को आचरण करना यही कर्तव्य है । शास्त्रविधिके उल्लंघन करनेसे ऐहिक सुख और

स्वर्ग अथवा चित्तशुद्धि तथा मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। दैवासुर-संपद्विभाग पूर्वक आसुरी प्रवृत्तिका त्याग और दैवीसम्पत्तिके ग्रहण निमित्त चेष्टा करनेसें भगवानकी शरणागति प्राप्त होती है और उसको ज्ञानस्वरूपमें स्थितिके कारण शांति सुखका विकाश होकर दैवासुरसम्पद्विभाग भी योगका फल देता है।

१७ अध्याय-श्रद्धात्रयविभागयोग

जीवनकी प्रत्येक कर्मप्रवृत्ति ही सात्विकादि भेदसे त्रिविध-प्रकारकी हो सकती है। इसलिये भगवानके 'तत्' स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना हो तो प्रत्येक कार्य सात्विकी श्रद्धासहित करना आवश्यक है। सात्विकी श्रद्धाके विकाशसे देवादिके पूजनमें प्रवृत्ति होती है और राजसी तामसी श्रद्धा मनुष्यको राक्षस और भूतप्रेतादिकी पूजामें प्रवृत्त कराती है। रजोगुणसे अभिभूत आसुरपुरुष विवेक रहित और कामरागयुक्त होकर शास्त्रविरुद्ध कार्यके अनुष्ठानपूर्वक देह और आत्माको क्लेश उत्पन्न करता है।

सात्विक सुपथ्य आहार निष्काम सात्विक यज्ञ, शरीर, वाणी और मनका संयमरूप शौच, ब्रह्मचर्य, स्वध्याय एवं मौनादि सात्विक तपस्या तथा कर्तव्यज्ञानसे योग्य पात्रमें दानके द्वारा चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञानवैराग्यका विकाश और भगवानके शरणागत होनेकी शक्ति प्राप्त करता है। येही समस्त शुभकार्य ही भगवानके नित्यसिद्ध ज्ञानस्वरूपके स्मरणार्थ 'ॐ तत् सत' इन नामत्रयके व्यवहारकी विधि निर्दिष्ट हुई है, इस प्रकार परमात्माकी प्राप्ति होनेसे उसको 'तत्' स्वरूपमें नित्यस्थिति सिद्ध होती है। रजोगुण तथा तमोगुण बढ़ानेवाले अशुभ अहार सकाम और

विधिरहित यज्ञ, दम्भादि युक्त और क्लेशकर तपस्या प्रत्युपकारकी आशासे और अवज्ञापूर्वक दान करनेसे असत्फल ही उत्पन्न होता है, वे इस लोकमें अथवा परलोकमें किसी शुभ फलको नहीं दे सकते। इस लिये राजसिक और तामसिक श्रद्धायुक्त कार्यसे भगवानकी कृपा प्राप्त करने की संभावना नहीं।

भगवानके चैतन्यस्वरूपमें आत्मशक्ति प्राप्त करना हो तो राजसी और तामसी श्रद्धाके त्याग पूर्वक सात्विकी श्रद्धाके अनुगत होना चाहिये। श्रद्धात्रयविभाग पूर्वक सात्विकी श्रद्धा के योगसे अनन्य भक्ति सहित भगवानमें अभिन्न ज्ञानका उदय होता है इस लिये श्रद्धात्रयका विभाग भी ज्ञानयोगका अंगरूप कहा है। श्रीभगवदुक्त योगका कौशल यही तो है।

१८ अध्याय-मोक्षसन्यासयोग

सम्यक् प्रकारसे विषयवासनाका त्याग ही सन्यास और एकमात्र भगवत्प्रेमसे ही सन्यासकी शान्ति प्राप्त होती है। शुद्धचित्तमें ही वैराग्य और प्रेमका सञ्चार होता है। इस लिये फलत्याग पूर्वक ईश्वरार्थयज्ञ दान और तपरूप कर्मानुष्ठान ही कर्तव्य है। मोहवस होकर कर्मका त्याग करना तामसिक और क्लेशके भयसे कर्मका त्याग करना राजसिक और फलकामनाके त्याग पूर्वक कर्तव्य कर्मका अनुष्ठान यही सात्विक त्याग। कर्ममें रागद्वेष रहित पुरुष ही यथार्थ त्यागी और सन्यासी। सकाम व्यक्तिके समान कर्मफल त्यागी पुरुषको देहान्तमें अनिष्ट, इष्ट, अथवा इष्टानिष्ट मिश्रित फल भोग नहीं करना हो तो वह कर्मफलत्यागके द्वारा चित्तकि शुद्धिको प्राप्त

करता है। वह वेदान्त सिद्धांत निर्दिष्ट शरीर, अन्तःकरण इन्द्रिय प्राणादिकी चेष्टा और दैवको ही कर्मका कारण जानकर आत्मामें कर्तृत्वारोप नहीं करता जिससे कर्ममें कर्तापनेके अभिमानके अभावके कारण उसे कर्मका फलभागी होना नहीं पड़ता। इस प्रकार सम्यक्दर्शनके द्वारा शुद्धान्तःकरण पुरुषका विवेकके प्रभावसे सन्यासका फल-मोक्ष प्राप्त करनेका अधिकार होता है।

सर्वभूतमें ब्रह्मज्ञान, निष्काम कर्म और निष्काम कर्ता ही सात्विक। निवृत्तिकी अनुगता बुद्धि, मनोनिरोधसमर्था धृति और आत्मानुकूल सुखही सात्विक। राजसिक और तामसिक ज्ञान और कर्म दुःख और मोहकर। राजसिक और तामसिक कर्ता आसक्त और विवेक हीन। राजसिक और तामसिक बुद्धि और धृति धर्माधर्म ज्ञानमें असमर्थ और विषयसेवनमें प्रीतियुक्त। राजसिक और तामसिक सुख विषतुल्य, केवल क्लेशकर सुतरां राजसिक और तामसिक ज्ञान और कर्मादिके त्यागसेही सात्विक शुभगुणका मोक्षानुकूल कर्मफलके सन्यास की शक्ति प्राप्त होती है।

चारों वर्णके स्त्री पुरुष अपने अपने अधिकारके अनुसार सात्विक भावसे कर्तापनेके अभिमानसे रहित होकर ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धृति और सुखका अनुसरण करनेसे ही भगवानकी कृपा प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है। स्वभावज कर्म निष्काम भावसे करनेसे सात्विक भाव और भक्ति तथा वैराग्यकी वृद्धि होती है। स्वधर्मपरायण मानव अपने वर्णाश्रमोचित कर्मादिका

अनुष्ठान करते करते क्रमशः ब्रह्मसाक्षात्कारके निमित्त बुद्धिकी विशुद्धता, रागद्वेषादि त्याग, एकान्तवास, शरीरादिका संयम, ध्यान, योग, वैराग्य, अहंकार, एवं परिग्रहादित्याग और सन्यास प्रभृति विशंति साधनके अभ्याससे चित्त शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मसन्यास पूर्वक समभावापन्न और प्रसन्नात्मा साधक पराभक्ति रूप परमात्मज्ञानको प्राप्त करता है। शरणागत भक्त ही भगवत्कृपासे उसके शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त करता है। सर्व हृदयमें भगवान ही नियन्तारूपसे अधिष्ठित है जिससे उसमें ही आत्मसमर्पण करना कर्तव्य है, अन्यथा अहंकार पूर्वक भगवानकी आज्ञाके विरुद्ध चेष्टा करनेसे कल्याण-की आशा नहीं हैं अतएव सर्वत्र भावसे भगवानका शरणग्रहण करनेसे ही परम शांति प्राप्त होती है। (अ. १८ श्लोक ६२) मन्मना, मद्भक्त और मद्याजी इन तीन पदोंमें भगवानने संक्षेपमें ब्रह्म ज्ञान, भगवद्भक्ति और ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठानका इंगितकर साधनके समस्त विघ्नविनाशके लिये नमस्कार पूर्वक उनकी एकान्त शरणागति प्राप्त करनेका उपदेश दिया। भगवानकी अनन्य शरणागति ही गीताका सर्व गुह्यातिगुह्य उपदेश।

भक्ति सहित भगवानके नित्यस्वरूपमें आत्मविसर्जन ही मोक्षयोगमें-भगवान ही भक्तके एकमात्र आश्रय। अनन्य शरणा-गत होनेसे प्रेमके मधुरभावमें तत् (ब्रह्म) और त्वं (जीवात्मा) पदार्थका लक्ष्य चिन्मय स्वरूपकी अभिन्नता सिद्ध होती है। यह ज्ञान ही संसारके शोक मोहको निवारण करनेके लिये समर्थ है। इसी लिये भगवानने "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो

मोक्षयिष्यामि मा शुचः" इस श्लोकार्धरूपिणी आश्वासन वाणी ही गीता शास्त्रका कीलक (एकमात्र अवलम्बन स्वरूप) रूपसे उल्लेखपूर्वक ब्रह्म विद्या विषयक उपदेशका उपसंहार किया है। (१३) प्रकृति पुरुष विवेकयोगमें त्वं और तत्पदार्थकी अभिन्नता का विचार (१४) गुणत्रयविभाग योगमें गुणातीत होकर अभिन्नताकी प्राप्ति (१५) पुरुषोत्तम योगमें सर्वान्तरात्मा परमात्माके स्वरूपके निर्णय सहित साधन, (१६) दैवासुरसम्पद्विभाग योगमें आसुरिक अशुभ गुणके परित्याग पूर्वक भगवानमें अभिन्नता प्राप्तिके लिये दैवीसम्पत् रूप शुभगुणकी सार्थकता (१७) श्रद्धात्रयविभाग योगमें ईश्वरकी आत्यंतिक प्रीति प्राप्त करनेके लिये राजसी और तामसी श्रद्धाका अशुभफल और सात्त्विकी श्रद्धायुक्तका यज्ञ, तप और शमादिकी कर्तव्यता एवं (१८) मोक्षयोगमें ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये ज्ञान और कर्मादिकी सात्विकता सम्पादन, बुद्धिकी विशुद्धता, ध्यानयोग और सन्यास एवं भगवानमें अनन्य शरणागि ही परमभक्तिका गुह्यातिगुह्य अद्वैत आत्मज्ञानका एकमात्र साधन और शोकमोहके निवारणका सफल उपाय कहा है।

उपनिषदुक्त 'तत्वमसि' महावाक्य वेदान्तशास्त्रमें भागत्यागादि लक्षणाके योगसे विविध युक्तिसह विचारित हुआ है। जीवात्माकी देहेन्द्रियादि रूप अनात्म उपाधि एवं ईश्वरके विराटदेहरूप स्थुल सूक्ष्म जगत् और जीव तथा ब्रह्ममें भेदका कारण अविद्या और माया के सम्बंध विचार पूर्वक तत् और त्वं पदार्थको शोधित अर्थात् उपाधिवर्ज्जित करनेसे तत् (ब्रह्म)

और त्वं (जीव) चैतन्य स्वरूपमें अभिन्न है यही सिद्ध होता है। शम दम श्रद्धादि साधन सहित इस अद्वैतसिद्धांतके निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। भगवानने गीताके तीन षट्कमें इसी श्रुतिसिद्धांतको दार्शनिक विचार जालसे पृथक करके अभ्यास योगके कौशलसे अनन्य भक्तको समझानेकी कृपा की है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जो इस प्रकार एकाग्रचित्तसे प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनको बुद्धियोग देता हूं जिसके द्वारा वे मुझे अनायास प्राप्त कर सकते हैं। गीताजीके प्रथमषट्कमें (कर्मयोगमें) ईश्वरार्थ निष्काम कर्मके अनुष्ठानके द्वारा साधककी देहात्मबुद्धि विनष्ट होकर देहातीत आत्मचैतन्यका निश्चय होने पर चित्तकी शुद्धि होती है और द्वितीयषट्कमें (भक्तियोगमें) उपदिष्ट उपायसे सत्ता ही सर्वत्र उपासना करते २ भक्तके विशुद्ध चित्तमें ईश्वरकी चिन्मय अनुभूत होती है उस समय अनन्तविश्वमें उसकी ही विभूतिका विकास देखकर भक्त उसका ही शरणागत होता है। भक्तिमान् साधक देहात्मबुद्धि त्याग भगवानके चिन्मय स्वरूपको उपासना के द्वारा अनन्य भावसे उसमें ही आत्मविसर्जन पूर्वक शांति प्राप्त कर सकता है। इस लिये गीताके तृतीय षट्कमें (ज्ञानयोगमें) जीव ब्रह्मकी अभिन्नता प्रतिपादक विचार और अभ्यासके सहित अज्ञानकृत शोक मोहसे उत्तीर्ण होनेके लिये वही सदुपाय गुणातीत परमात्माके अभयस्वरूपमें अनन्य शरणागति साधनरूपसे उपदिष्ट है। (सम्पूर्ण)

श्रीमद्भगवद्गीता पाठक्रमः ।

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे इति बीजं सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः इति कीलकम् ।

इस श्रीमद्भगवद्गीतारूप मन्त्रमालाके भगवान् वेदव्यास ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, श्रीकृष्ण परमात्मा देवता "जिसके लिये शोक करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम उनके लिये शोक प्रकट करके आत्माके सम्बन्धमें अपनी अज्ञताका परिचय देते हो और पण्डितोंके समान बात कहते हो" यही इस माला मन्त्रका बीज । सब प्रकारके धर्माधर्मानुष्ठानकी विधिका किंकरत्व परित्यागपूर्वक एकमात्र मेरे ही शरणापन्न हो" "गीतारूप मन्त्रमालाकी यही शक्ति । मेरे पर दृढ़ विश्वास रखकर मुझमें आत्मसमर्पण करनेसे मैं ही तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तुम शोक मत करो" यही इस मन्त्र मालाका कीलक अर्थात् आश्रय ।

करन्यासः—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
इति अंगुष्ठाभ्यां नमः ।

न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः
इति तर्जनीभ्यां नमः ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
इति मध्यमाभ्यां नमः ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः

इति अनामिकाभ्यां नमः ।

पश्य मे पार्थरूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः

इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च

इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

—: इति करन्यास :—

हृदयादिन्यासः—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

इति हृदयाय नमः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः

इति शिरसे स्वाहा ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च

इति शिखायै वषट् ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः

इति कवचायहुम् ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः

इति नेत्रत्रयाय वौषट ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च

इत्यस्त्राय फट् ।

—: इति हृदयादिन्यास :—

संकल्पः—

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थेपाठे विनियोगः

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये गीता पाठ करता हूँ ।

ध्यानम्ः—

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्बत्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥१॥

हे जननी भगवद्गीते ! महाभारतके मध्यमें अति प्राचीन महर्षि वेदव्यास द्वारा ग्रथित, स्वयं भगवान् नारायण द्वारा अर्जुनको लक्ष्य करके सम्यक् समझायी हुई, पुनर्जन्मनाशिनी अद्वैतामृतवार्षिणी, अष्टादशाध्यायरुपिणी, भगवती षड़ैश्वर्ययुक्ता आपको मैं सम्यक् धारण करता हूं ॥१॥

नमोऽस्तुते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयप्रदीपः ॥२॥

आपके द्वारा महाभारतरूप तैल द्वारा परिपूर्ण गीतारूपी ज्ञान मय प्रदीप प्रज्वालित हुआ है वही प्रस्फुटित पद्मपत्रसदृश नेत्रयुक्त हे महामति व्यास ! आपको नमस्कार हो ॥२॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥३॥

शरणागतको कल्पवृक्ष समान, संताड़न वेत्रदण्डसे शोभित है हस्त जिनका, भक्त अर्जुनको ज्ञानोपदेशार्थ ज्ञानमुद्रा युक्त, गीतारूपी अमृतके दोहन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार ॥३॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधिर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥४॥

समस्त उपनिषद् गौके समान, गोपालनन्दन भगवान श्रीकृष्ण दोहनकर्ता, अर्जुन वत्ससदृश, अच्छी बुद्धिवाले भोक्ता और महान् उपकारक गीतामृत ही दुग्धस्वरूप ॥४॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।

देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥५॥

वसुदेवके पुत्र देव, कंस और चाणूर दैत्यके मर्दन करनेवाले, देवकीजीको परमानन्द देनेवाले जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको मैं वन्दना करता हूँ ॥५॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनिलोत्पला,

शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।

अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी,

सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥६॥

युद्ध व्यापार रूप जिस नदीके भीष्म और द्रोण तट स्वरूप, जयद्रथ जलस्वरूप, गांधारीके पुत्र नीलपद्म स्वरूप, शल्य जिसमें ग्राह स्वरूप, कृपाचार्य जिसमें प्रवाहरूप, कर्ण जिसमें वेलाभूमि, अश्वत्थामा और बिकर्ण जिसमें भयानक मकर सदृश, दुर्योधन जिसमें घुर्णितजल इस प्रकारकी रणनदीको भगवान् श्रीकृष्णके कर्णधार होनेसे पाण्डवगण निर्विघ्नता पूर्वक पार कर गये ॥६॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं,

नानाख्यानककेसरं हरिकथा सम्बोधना बोधितम् ।

लोके सज्जनषट्पदै रहरहः पेपीयमानं मुदा,

भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥७॥

सब प्रकारके मलविहीन, कलिस्वभावजात पापनाशक, श्रीमद्-भगवद्गीताका उपदेश महा सौगन्ध्य युक्त, विविध आख्यानरूप केशर समन्वित, श्रीहरिकी उपदेश कथा द्वारा प्रबोधित संसारके

साधुजन रूप मधुकर द्वारा परमहर्षसे प्रतिदिन पुनः पुनः पीयमान पराशर पुत्र वेदव्यासजीके वदन रूप सरोवरसे उत्पन्न महाभारतरूप महापद्म हमारा मंगल विधान करो ॥७॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानंदमाधवम् ॥८॥

जिसकी कृपा मूकको वाचाल करे, पंगुको पर्वतका उल्लंघन करावे उसी परमानन्द माधव श्रीकृष्णको मैं वंदना करता हूं ॥८॥

यं ब्रह्मावरूणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥९॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और वायु अनुपम स्तोत्रोंके द्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, सामगायक गण अङ्ग, पदक्रम और उपनिषदों सहित वेदके द्वारा जिसके गुणानुवाद गाते हैं, योगी गण ध्यानावस्थित होकर तद्गत चित्तके द्वारा जिसका दर्शन करते हैं, देवता और असुर गण जिशकी सीमाको जान नहीं सकते; उन देवादिदेव परमेश्वरको प्रणाम ॥९॥

श्रीभगवद्गीतामें पांच छंद हैं ।

अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति और विपरीतपूर्वा ये पांच छंदमें गीताजीके ७०० श्लोक रचित हैं । उनमें से ६४५ श्लोक अनुष्टुप छंदमें हैं और अवशिष्ट ५५ श्लोक जिन जिन छंदोंमें है वह तथा छंदकी रचना प्रणाली "गीतार्थ प्रकाश" विवेचनमें उस उस श्लोककी फूटनोटमें देखनेसे मालूम होगा ।

श्रीभगवद्गीता सप्तशती ।

श्रीभगवद्गीताके अन्दर सब मिलाकर ७०० श्लोक होनेसे उसे सप्तशती कहते हैं । धृतराष्ट्रका १, संजयके ४०, अर्जुनके १५ और भगवान् श्रीकृष्णके ५७४ इस प्रकार ७०० श्लोक होते हैं । प्रथम अध्यायके ३ से ११ श्लोक पर्यन्तके नव श्लोक में दुर्योधनका कथन २५ वें श्लोकमें "पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुन्" यह श्रीभगवानका कथन और द्वितीय अध्यायके ९ वें श्लोकमें "न योत्स्य" यह अर्जुनका कथन ये सब सञ्जयके कथनमें ग्रहण करनेसे ऊपरोक्त संख्या निरुपित होती है ।

गीताका महत्व ।

मोहको मिटाती प्रकटाती आत्मबोध शुद्ध ।
भीरूता भगाती युद्धवीरता जगाती है ॥
क्षणमें छुड़ाती अकर्मण्यतासे निष्क्रियिको ।
कौन तू है? विश्व क्या है? तथ्य समझाती है ॥
जीवनमें विश्वविजयीका है पढ़ाती पाठ ।
मरणोपरान्त मोक्ष द्वार दिखलाती है ।
प्यारी योगियोंकी औ वियोगियोंकी भोगियोंकी ।
शान्ति सुखदात्री एक गीता कहलाती है ॥

शांकरभाष्योपक्रमणिका।

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम्।

अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥

अव्यक्तसे अर्थात् मायासे श्रीनारायण आदिपुरुष सर्वथा अतीत (अस्पृष्ट) हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है, ये भूः, भुवः आदि सब लोक और सात द्वीपोंवाली पृथ्वी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं।

स भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः। दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवात् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्णः किल संबभूव।

इस जगतको रचकर इसके पालन करनेकी इच्छावाले उस भगवानने पहले मरीचि आदि प्रजापतियोंको रचकर उनको वेदोक्त प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्मयोग) ग्रहण करवाया। फिर उनसे अलग सनक, सनंदनादि ऋषियोंको रचकर उनको ज्ञान और वैराग्य जिसके लक्षण हैं ऐसा निवृत्तिरूप धर्म (ज्ञानयोग) ग्रहण करवाया। वेदोक्त धर्म दो प्रकारका है—एक प्रवृत्तिरूप, दूसरा निवृत्तिरूप। जो जगतकी

स्थितिका कारण तथा प्राणियोंकी उन्नतिका और मोक्षका साक्षात् हेतु है एवं कल्याण-कामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रमावलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है। बहुत कालसे धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अंतःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्तिका कारण है, ऐसे अधर्मसे जब यह धर्म दबने लगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगी तब जगतकी स्थिति सुरक्षित रखनेकी इच्छावाले वे आदिकर्ता नारायणनामक श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्मकी अर्थात् भूदेवों (ब्राह्मणों) के ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें अपने अंशसे (लीलाविग्रहसे) श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, यह प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः तदधीनत्वात् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानां ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते। स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति।

ब्राह्मणत्वकी रक्षासे ही वैदिक धर्म सुरक्षित होगा क्योंकि वर्णाश्रमोंके भेद उसीके आधीन हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदिसे सदा संपन्न वे भगवान्, यद्यपि अज, अविनाशी, सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हैं, तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते

हुए जैसे दीखते हैं। अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी भगवानने भूतोंपर दया करनेकी इच्छासे, यह सोचकर कि अधिक गुणवान पुरुषोंद्वारा ग्रहण किया हुआ और आचरण किया हुआ धर्म अधिक विस्तारको प्राप्त होगा शोक मोह, रूप महासमुद्रमें डूबे हुए अर्जुनको दोनों ही प्रकारके वैदिक धर्मोंका उपदेश किया।

तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबन्ध। तत् इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्। तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपदपदार्थवाक्यार्थन्यायम् अपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणं उपलभ्य अहं विवेकतः अर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि।

उक्त दोनों प्रकारके धर्मोंको भगवानने जैसे जैसे कहा था, ठीक वैसे ही सर्वज्ञ भगवान् श्रीवेदव्यासजीने गीतानामक सातसौ श्लोकोंके रूपमें ग्रथित किया। ऐसा यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदार्थका सार संग्रह रूप है और इसका अर्थ समझनेमें अत्यन्त कठिन है। यद्यपि उसका अर्थ प्रकट करनेके लिये अनेक पुरुषोंने पदच्छेद, पदार्थ, वाक्यार्थ और आक्षेप, समाधानपूर्वक उसकी विस्तृत व्याख्याएँ की हैं, तो भी लौकिक मनुष्योंद्वारा उस गीताशास्त्रका अनेक प्रकारसे (परस्पर) अत्यन्त विरुद्ध अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते देखकर, उसका विवेकपूर्वक अर्थ निश्चित करनेके लिये मैं संक्षेपसे व्याख्या करूँगा।

तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तत् च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपात् धर्मात् भवति। तथा इमं एव गीतार्थधर्मं उद्दिश्य भगवता एव उक्तम् 'स हि धर्मः सुपर्याप्तो

ब्रह्मणः पदवेदने ' इति अनुगीतासु । किं च अन्यदपि तत्रैव उक्तम्—'नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी । यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ॥ ' 'ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ' इति च इह अपि च अन्ते उक्तम् अर्जुनाय—'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमाश्चदिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः । शुद्धसत्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वम् अपि प्रतिपद्यते । तथा च इमम् एव अर्थम् अभिसंधाय वक्ष्यति–'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये' इति । इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थतत्वं च वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म अभिधेयभूतं विशेषतः अभिव्यंजयत् विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवत् गीताशास्त्रम् । यतः तदर्थे विज्ञाते समस्तपुरुषार्थसिद्धिः अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया ।

संक्षेपमें इस गीताशास्त्रका प्रयोजन परमकल्याण अर्थात् कारणसहित संसारकी अत्यन्त उपरति हो जाना है, वह (परमकल्याण) सर्व-कर्म-संन्यास-पूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठारूप धर्मसे प्राप्त होता है । इस गीतार्थ-रूप धर्मको लक्ष्य करके स्वयं भगवानने ही अनुगीतामें कहा है कि, 'ब्रह्मके परमपदको (मोक्षको) प्राप्त करनेके लिये वह (गीतोक्त ज्ञान-निष्ठारूप) धर्म ही सुसमर्थ है । ' इसके सिवाय वहां ऐसा भी कहा है कि, 'जो न धर्मी, न अधर्मी और न शुभाशुभी होता है तथा जो कुछ भी चिन्तन न करता हुआ तूष्णींभावसे एक जगदाधार ब्रह्ममें लीन हुआ रहता है वही उसको पाता है । ' यह भी कहा है कि,

'ज्ञानका लक्षण (चिह्न) सन्यास है।' यहाँ (गीताशास्त्रमें) भी अर्जुनसे कहा है—'सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा।' अभ्युदय-सांसारिक उन्नति ही जिसका फल है ऐसा जो प्रवृत्तिरूप धर्म, वर्ण और आश्रमोंको लक्ष्य करके कहा गया है, वह यद्यपि स्वर्गादिकी प्राप्तिका ही साधन है तो भी फलकामना छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाला होता है। तथा शुद्धान्तःकरण पुरुषको पहले ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता प्राप्त कराकर फिर ज्ञानोत्पत्तिका कारण होनेसे (वह प्रवृत्तिरूप धर्म) कल्याणका भी हेतु होता है। इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर आगे कहेंगे कि, कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण कर' 'योगिजन आशक्ति छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं' इत्यादि। परमकल्याण ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे इन दो प्रकारके धर्मोंको और लक्ष्यभूत वासुदेवनामक परमब्रह्म परमार्थतत्वको विशेषरूपसे अभिव्यक्त (प्रकट) करनेवाला यह गीताशास्त्र, असाधारण प्रयोजन, सम्बन्ध और विषयवाला है। ऐसे इस (गीताशास्त्र) का अर्थ जान लेनेपर समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, अतएव इसकी व्यख्या करनेके लिये मैं प्रयत्न करता हूँ। (अन्य टीकाकारोंकी उपक्रमणिकायें क्रमशः दी जायगी।)

श्रीभगवद्गीताका समादर।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।

श्रीभगवद्गीता हिन्दुधर्मका प्रधान धर्मशास्त्र है। हिन्दुजातिके सभी सम्प्रदाय तथा श्रेणिके लोग इस शास्त्रका आदर व अध्ययन करते हैं। इस शास्त्रके ऊपर प्रायः सभी धर्माचार्य एवं विद्वानोंने भाष्य, टीका, अथवा साररूप निबन्ध लिखकर इस शास्त्रके रहस्यको समझानेका प्रयत्न किया है। भगवान् श्रीकृष्ण इस शास्त्रके प्रधान उपदेशक हैं। भगवान् वेदव्यासजी इस शास्त्र

के संकलनकर्ता है। यही शास्त्र महर्षि वैशंपायनने राजा जनमेजयको सुनाया है। सूतपुराणीने शौनकादिक ऋषियोंके प्रति यही शास्त्र प्रेमपूर्वक सुनाया है। भाष्यकार स्वामी शंकराचार्यजी, भाष्यकार स्वामी रामानुजाचार्यजी, भाष्यकार भगवान् श्रीवल्लभाचार्यजी, भाष्यकार श्रीमध्वाचार्यजी एवं भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्यजीने इस शास्त्रको अपने प्रमाणग्रन्थोंमें आदर पूर्वक स्थान दिया है। इस शास्त्रके ऊपर भाष्य तथा निबन्धादि लिखे हैं। श्रीआनंदगिरि, श्रीमधुसूदन, श्रीधर, श्रीशंकरानंद केशवभट्ट, गोस्वामीश्रीपुरुषोत्तजीमहाराज गोस्वामीश्रीवल्लभजी, नीलकंठ, बलदेव विद्याभूषण, विश्वनाथ चक्रवर्ती आनंदतीर्थ गोपालानंदस्वामी दैवज्ञसूर्यपण्डित प्रभृति अनेक विद्वान् महात्माओंने इस शास्त्रकी व्याख्यायें संस्कृत भाषामें लिखकर अपने सिद्धान्तका गीतानुसार प्रतिपादन किया है। प्राचीन विद्वानोंके ऊपरान्त भगवद्भक्त एवं योगी महात्मा श्रीज्ञानेश्वरजी, गोस्वामी तुलसीदासजी प्रभृतिने भी इस ग्रन्थकी कवितामें विशद व्याख्यायें लिखी है। मध्यकाल तथा वर्तमानकालके सुप्रसिद्ध विद्वान् लेखक और कवियोंमेंसे प्रायः सभीने गीताजीके ऊपर कुछ न कुछ लिखा है। हम इस ग्रन्थमालामें "गीतासाहित्यदिग्दर्शन" प्रकाशित करके भारतीय समस्त भाषाओंके गीतासाहित्यका परिचय प्रदान करेंगे। यहां पर मात्र यही निवेदन करना है कि श्रीभगवद्गीता एक सर्वमान्य शास्त्र है। सनातनधर्मके अन्दर जितने सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदाय हैं वे सभी गीताको स्वतः प्रमाण वेदवत् प्रमाणरूपसे मानकर समादर करते हैं।

श्रीभगवद्गीताके उपदेशक।

गीताका उद्देश्य और अर्थ समझ लेनेसे पहिले वक्ता, पात्र और उस समयकी अवस्थाका विचार करना आवश्यक है। वक्ता तो थे भगवान श्रीकृष्ण, पात्र थे श्रीकृष्णके सखा वीरशिरोमणि अर्जुन और अवस्था थी कुरुक्षेत्रके भीषण हत्याकाण्डका आरम्भ।

बहुत लोग कहते हैं, कि महाभारत रुपक मात्र है। श्रीकृष्ण भगवान, अर्जुन जीव, धार्तराष्ट्र अर्थात् दुर्योधन आदि शत्रु और पांडव सेना मुक्तिकी अनुकूल वृत्तियां हैं। इससे जिस प्रकार महाभारतको काव्य साहित्यमें तुच्छ स्थान दिया जाता है, उसी प्रकार गीताकी गम्भीरता, कर्म्मीके जीवनमें उसकी उपयोगिता और उच्च मानव जातिकी उन्नति करने वाली शिक्षा, हीन और नष्ट हो जाती है। कुरुक्षेत्रका युद्ध केवल गीताचित्रका फ्रेम नहीं वरं गीतामें कथित शिक्षाका मूल कारण एवं गीतामें उल्लिखित धर्म्म सम्पादनका श्रेष्ट क्षेत्र है। कुरुक्षेत्र महासमरका काल्पनिक अर्थ यदि स्वीकार किया जाय तो गीताका धर्म्म वीरोंका धर्म्म है और वह संसारमें आचरणीय धर्म्म न होकर संसारके अनुपयोगी शान्त सन्यास धर्म्ममें परिणत है।

श्रीकृष्ण वक्ता थे। शास्त्रोंमें लिखा गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। गीतामें श्रीकृष्णने अपनेको भगवान कहकर ही कथन किया है। चौथे अध्यायमें अवतारवाद एवं दशवें अध्यायमें विभूतिवादका अवलम्बन करके भगवान सब प्राणियोंके शरीरमें प्रच्छन्नभावसे अवस्थित, बहुतसे प्राणियोंमें शक्ति विकाशसे अधिक परिमाणमें व्यक्त एवं श्रीकृष्ण शरीरमें पूर्ण रूपमें अवतीर्ण हैं, यही प्रकट होता है। बहुतोंका कहना है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन कुरुक्षेत्रके रूपकमात्र हैं, उसी रूपकके बहाने गीताकी असली शिक्षाका उद्धार हुआ है, किन्तु उस शिक्षा का यह अंश पृथक् नहीं किया जा सकता। अवतारबाद यदि है, तो श्रीकृष्णको पृथक कैसे किया जा सकता है? अतएव स्वयं भगवान इस ज्ञान और शिक्षाके प्रचारक है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण अवतार हैं, उन्होंने मानव शरीरमें, मनुष्यका शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक धर्म ग्रहण करके तदनुसार लीला की है। उसी लीलाका प्रकाश्य और उसकी गूढ़शिक्षा यदि हम अपने अधीन करें, तो इस संसारव्यापी लीलाका अर्थ उद्देश्य और प्रणाली जान सकेंगे। इस महती लीलाका प्रधान अंग पूर्णज्ञान-प्रवर्त्तित कर्म है। उस कर्ममें और लीलाके मूलमें कौनसा ज्ञान निहित था, वही गीतामें प्रकाशित हुआ।

महाभारतके श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य स्थापक राजनीतिक और योद्धा—क्षत्रिय शरीरमें ब्रह्मज्ञानी थे। उनके जीवनमें महाशक्तिका अतुलनीय विकाश और रहस्यमय क्रीड़ा दिखाई पड़ती है। गीता उसी रहस्यकी व्याख्या है।

श्रीकृष्ण संसारके प्रभु, विश्वव्यापी वासुदेव अथवा अपनी महिमा प्रच्छन्न करके पिता, पुत्र, भाई, पति, सखा, मित्र, शत्रु इत्यादि सम्बन्ध मानव समाजके साथ स्थापन करके लीलायें की हैं। उनके जीवनमें आर्यज्ञानका बड़ा रहस्य एवं भक्तिमार्गकी उत्तम शिक्षा स्थापित है। उसके सब तत्व भी गीतोक्त शिक्षाके अन्तर्गत हैं।

श्रीकृष्ण द्वापर और कलियुगके संधिस्थल यानी बीचमें, अवतीर्ण हुये थे। प्रत्येक कल्पमें उस सन्धिस्थलके समय भगवान पूर्णाङ्ग रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कलियुग चारोंयुगोंमें जैसा निकृष्ट युग है वैसा ही वह उत्तम भी है। यह युग मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान शत्रु, पाप-प्रवर्त्तक कलिका राज्यकाल है। मानव समाजकी अत्यन्त अवनति और अधोगति कलिके शासन कालमें ही होती है। किन्तु बाधाओंके साथ युद्ध करते करते शक्तिकी वृद्धि होती है; पुरानेके ध्वंसमें नयेकी प्रायः उत्पत्ति होती है, यही नियम कलियुगमें भी देखा जाता है। संसारके क्रमविकाशमें अशुभके जिस अंशका नाश होता जाता है, वही कलियुगमें अति विकाशमें नष्ट होता है तथा एक ओर नयाबीज बोया जाता और अंकुरित होता है जो कि सतयुगमें

वृक्ष रूपमें परिणत होता है । जैसे ज्योतिष विद्यामें एकही ग्रहकी दशामें सब ग्रहोंकी अन्तर्दशाका भोग होता है, वैसे ही कालकी दशामें सत्ययुग, त्रेत्रा, द्वापर और कलियुग भी अपनी अपनी अन्तर्दशाका बारबार भोग करते हैं । इस प्रकार चक्रगतिके प्रभावसे कलियुगमें घोर अवनति, फिर उन्नति, फिर घोरतर अवनति, फिर उन्नति होकर भगवानका उद्देश्य साधित होता है। द्वापर और कलियुगके बीचमें भगवान अवतीर्ण होकर अशुभका अति विकाश और उसका नाश तथा शुभका बीजवपन और उसके अंकुरके अनुकूल अवस्था कर जाते हैं, तत्पश्चात् कलिका प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण इस गीतामें सत्ययुगके आगमन के उपयुक्त कुछ ज्ञान और कर्मकी प्रणाली छोड़ गये हैं । कलियुगके अन्तर्गत सत्ययुगकी अन्तर्दशाके आगमनकालमें, गीता धर्म्मका विश्वव्यापी प्रचार अवश्यम्भावी है । वही समय उपस्थित होनेके कारण, गीताका आदर, कुछ ज्ञानी और पंडितोंमें सीमावद्ध न रहकर, सर्वसाधारणमें एवं म्लेच्छदेशोंमें भी प्रसारित हो रहा है । अतएव वक्ता श्रीकृष्णसे उनका गीतारूप वाक्य स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता । श्रीकृष्ण गीतामें प्रच्छन्न हो कर रहते हैं गीता श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति है ।

श्रीभगवद्गीताका श्रोता ।

गीतामें वर्णित ज्ञानके पात्र थे पांडव-श्रेष्ठ महावीर इन्द्रका पुत्र अर्जुन । जिस तरह वक्ताको अलग कर देनेसे गीता का उद्देश्य और उसके निगूढ़ार्थका उद्धार करना कठिन है, इसी तरह पात्र (अर्जुन) को अलग कर देनेसे गीताके असली अर्थकी सिद्धि नहीं होती । अर्जुन श्रीकृष्णके प्रिय सखा थे । जो लोग श्रीकृष्णके समयमें एकही कर्म्मक्षेत्रमें अवतीर्ण थे, उन लोगोंका मनुष्य शरीरधारी पुरुषोत्तमके साथ अपने अपने अधिकार और पूर्वजन्मके कर्म्मभेदानुसार भिन्न भिन्न सम्बन्ध स्थापित था । उद्धव श्रीकृष्णके भक्त,

सात्यकि उनका सहचर और दास, राजा युधिष्ठिर उनकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले आत्मीय और बन्धु थे । किंतु श्रीकृष्णके साथ अर्जुनकी सी उचित घनिष्ठता किसीकी भी नहीं थी । समान अवस्था वाले दो पुरुषोंमें जितना मधुर और निकट सम्बन्ध हो सकता है, श्रीकृष्ण और अर्जुनमें वह सब मधुर सम्बन्ध विद्यमान था । अर्जुन श्रीकृष्णके भाई, प्रियतम सखा और उनकी प्राणप्रतिम बहिन सुभद्राके स्वामी थे । गीताके चौथे अध्यायमें भगवानने, इस घनिष्ठताको ही गीताका परम रहस्य श्रवण करनेके पात्र रूपमें वरण करनेका कारण कहा है ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

अर्थात्—वह पुराना छिपा हुआ योग हमने आज अपना भक्त और सखा समझ, तुमसे प्रकट किया है । कारण, यह योग संसार का उत्तम और परम रहस्य है । अठारहवें अध्यायमें भी गीताके केन्द्रस्वरुप कर्म्मयोगका मूल मन्त्र व्यक्त करनेके समय भगवानने इस बातको दुहराया है ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

"फिर हमारी परम और सबकी अपेक्षा गुह्यतम बातको सुनो तुम हमें अत्यन्त प्रिय हो, इसी कारण तुमसे इस उत्तम मार्ग की बात हम प्रकट करेंगे ।" इन दोनों श्लोकोंके अभिप्राय श्रुतिके अनुकूल हैं, जैसा कि कठोपनिषद्में लिखा हुआ है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुते ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनु स्वां ॥

"यह परमात्मा दार्शनिकोंकी व्याख्या द्वारा भी लभ्य नहीं मेधाशक्ति द्वारा भी लभ्य नहीं, और पूर्ण शास्त्रज्ञान द्वारा भी लभ्य नहीं । भगवान जिन्हें वरण करते हैं, उन्हींको लभ्य होते हैं और

उन्हींके समीप यह परमात्मा अपना शरीर प्रकट करते हैं।" अएतव जो लो ा भगवानके साथ सख्य इत्यादि मधुर सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ है, वही गीतामें वर्णित ज्ञानके पात्र हैं।

इसमे एक और अत्यन्त प्रयोजनीय बात छिपी है। भगवानने अर्जुनको एकही शरीरमें भक्त और सखा कहकर वरण किया है। भक्त अनेक तरहके होते हैं। साधारणतः किसीको भक्त कहनेसे गुरु-शिष्य सम्बन्धकी बात याद आती है। उस भक्तिके मूलमें प्रेम है तो सही, किन्तु साधारणतः वाध्यता, सम्मान और अन्धभक्ति उसके विशेष लक्षण हैं। किन्तु सखा, सखाको सम्मानित नहीं करते; सखाके साथ क्रीड़ा-कौतुक आमोद और स्नेह युक्त सम्भाषण करते हैं; क्रीड़ाके लिये उनका उपहास और ताच्छिल्य भी करते हैं, गाली देते हैं और उनपर दौरात्म करते हैं। सखा सब दिन सखाके वाध्य नहीं होते; उनकी ज्ञान गरिमा छलरहित हितैषितामें मुग्ध हो कर यद्यपि उनके उपदेशानुसार चलते हैं तो भी अन्धभावसे नहीं; उनके साथ तर्क करते हैं; अपने सन्देह प्रकट करते हैं, बीच बीचमें उनके मतका प्रतिवाद भी करते हैं। भयका दूर होना सखा सम्बन्धकी प्रथम शिक्षा है। सम्मानके बाहरी आडम्बरका विसर्जन उसकी दूसरी शिक्षा है; प्रेम उसकी पहिली बात और शेषकी बात है। जो लोग इस संसाको माधुर्य्यमय, रहस्यमय, प्रेममय और आनन्दमय क्रीड़ा समझ, भगवानको क्रीड़ाके सहचर रूपमें वरण करके सख्य सूत्रमें आबद्ध कर सकते हैं, वे ही गीतोक्त ज्ञानके पात्र यानी अधिकारी हैं। जो लोग भगवानकी महिमा, प्रभुत्व, ज्ञान-गरिमा और भीषणताको हृदयङ्गम करते हैं, और ऐसे ही ज्ञान रहित न हो कर उनके साथ निर्भय और प्रसन्न मुख हो क्रीड़ा करते हैं वे ही गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी हैं।

सख्य सम्बन्धमें क्रीड़ाके बहाने, सब सम्बन्ध अन्तर्भूत हो सकता है। गुरुशिष्य सम्बन्ध, सख्यमें प्रतिष्ठित होनेसे अत्यन्त मधुर

हो जाता है, इसीसे अर्जुनने गीताके प्रारम्भमें श्रीकृष्णके साथ ऐसाही सम्बन्ध स्थापित किया। अर्जुनने कहा भी है—"तुम्हीं मेरे परम हितैषी बन्धु हो, तुम्हारे सिवाय किसकी शरणमें मैं जाऊँ; मैं मन्दबुद्धि कर्त्तव्य-भयसे भीत हूँ, कर्त्तव्यके सम्बन्धमें संदिग्ध और तीव्र शोकके कारण ज्ञान रहित हूँ। तुम मेरी रक्षा करो, उपदेश दो, मैं अपने लौकिक और पारलौकिक मङ्गलका सारा भार तुम्हीं पर छोड़ता हूं।" इस भावसे अर्जुन मानवजातिके एकमात्र सखा और सहायकके निकट ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आया था। फिर मातृ सम्बन्ध एवं वात्सल्यभाव भी तो सख्यमें सन्निविष्ट होता है। अवस्थामें बड़े और ज्ञानमें श्रेष्ठ लोग अपनेसे छोटे और अल्पज्ञ सखाकी रक्षा करते, यत्न करते और सर्वदा उन्हें अपने समीप रख विपत्ति और अशुभसे बचाते हैं। जो लोग श्रीकृष्णसे मैत्री करते हैं, श्रीकृष्ण उनके साथ आत्मीय भाव रखते हैं। मैत्रीमें जिस तरह मातृप्रेमकी गम्भीरता है, उसी तरह दाम्पत्य यानी पती पत्नी प्रेमकी तीव्रता और उत्कट आनन्दका भी समावेश हो सकता है। सखा अपने सखाके सान्निध्य यानी निकटताकी हमेशा प्रार्थना करते और उनके वियोगमें दुःखी होते हैं। उनके शरीर-स्पर्शसे गद्गद होते हैं और उनके लिये प्राणतक देनेमें आनन्द मानते हैं। दास्य (सेवक और स्वामी) सम्बन्ध भी मैत्रीकी क्रीड़ाके अन्तर्गत होनेसे मधुर हो जाता है। कहा जा चुका है कि जो जितना ही मधुर सम्बन्ध पुरुषोत्तम के साथ स्थापित करते हैं, उनका मैत्री-भाव उतनाही प्रस्फुटित होता एवं उतना ही वे गीतोक्त ज्ञानके अधिकारी होते हैं।

कृष्णके सखा अर्जुन, महाभारतके प्रधान कर्मी हैं और गीतामें कर्मयोग शिक्षा ही प्रधान शिक्षा है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों मार्ग परस्पर बिरोधी नहीं हैं; कर्म्म मार्गमें ज्ञानसे उत्पन्न कर्ममें प्राप्त भक्तिकी शक्तिका प्रयोग करके परमात्माके उद्देश्य सिद्धिके लिये उन्हीं की आज्ञानुसार कर्म करना गीताकी शिक्षा है। जो लोग संसारके

दुःखोंसे भयभीत, वैराग्य-पीड़ित, ईश्वरकी लीलासे विरक्त हो रहे हैं और कर्म छोड़कर उससे छिपनेवाले हैं, उनका मार्ग स्वतन्त्र है। वीरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर अर्जुनकी ऐसी इच्छा या भाव नहीं था! श्रीकृष्णाने किसी शान्त सन्यासी अथवा दार्शनिक ज्ञानीसे यह उत्तम रहस्य नहीं प्रकट किया था, न किसी अहिंसा-परायण ब्राह्मणको इस शिक्षाका अधिकारी समझ उसे वरण किया था, उन्होंने तो महापराक्रमी तेजस्वी और क्षत्रिय योद्धाको यह अतुलनीय ज्ञान प्रदान किया था। जो लोग जीवन-संग्राममें जय और पराजयसे विचलित नहीं होते हैं। वे ही इस शिक्षाकी गूढ़तम तहमें प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" अर्थात् यह आत्मा बलहीन पुरुषोंको भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग मुमुक्षुत्वकी अपेक्षा ईश्वरकी प्राप्तिकी आकांक्षाको अधिक पोषण करते हैं वेही भगवानके समीपका आस्वाद पा अपनेको नित्य-मुक्त स्वभाववान बनानेमें मुमुक्षुत्व अज्ञानका अन्तिम आश्रय समझकर उसे त्याग करदेनेमें समर्थ होते हैं। जो लोग तामसिक और राजसिक अहंकार त्याग करके सात्विक अहंकारमें भी आबद्ध होना नहीं चाहते, वे ही गुणातीत अर्थात् जीवनमरणसे मुक्त होनेमें समर्थ होते हैं। अर्जुनने क्षत्रिय-धर्म पालन करनेमें राजसिम वृत्तिको चरितार्थ किया है, अथच सात्विकका आदर्श ग्रहण करनेमें रजःशक्तिको सत्व-मुखी किया है। उसी तरहके पात्र गीतोक्त शिक्षाके लिये उत्तम आधार है।

अर्जुन उस समयके महापुरुषोंमें श्रेष्ठ थे; सो बात नहीं है। आध्यात्मिक ज्ञानमें व्यासदेव, उस युगके सब तरहके सांसारिक ज्ञानमें पितामह भीष्म, ज्ञानकी तृष्णामें राजा धृतराष्ट्र और विदुर, साधुता और सात्विक गुणमें धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भक्तिमें उद्धव और अक्रूर यथा स्वभाविक शौर्य और पराक्रममें ज्येष्ठ भ्राता महारथ कर्ण श्रेष्ठ थे। परन्तु अर्जुनको ही भगवानने यह ज्ञान प्रदान किया था, उन्हींके हाथमें उन्होंने अचला जयश्री एवं गांडीव धनुष आदि

अनेक दिव्य अस्त्र समर्पण करके उनके द्वारा भारतके हजारों जगद्विख्यात वीरोंका संहार कर युधिष्ठिरको निष्कंटक साम्राज्य अर्जुनने पराक्रमसे प्राप्त दानरूपमें स्थापित किया। इतना ही नहीं, वरं भगवानने अर्जुनको ही गीतोक्त परम ज्ञानका एकमात्र पात्र समझ निर्णीत भी किया। अर्जुन ही महाभारतके नायक और प्रधान थे, इसीसे काव्यका प्रत्येक अंश उन्हींके यश और कीर्तिका पोषण करता है। यह पुरुषोत्तम अथवा महाभरतके रचयिता व्यासदेवका अनुचित पक्षपात नहीं है। यह संपूर्ण उत्कर्ष, श्रद्धा और आत्मसमर्पणका फल है। जो लोग पुरुषोत्तम पर पूर्ण श्रद्धापूर्वक बिना किसी प्रकारकी इच्छाके अपने किये हुये शुभ और अशुभ मङ्गल और अमङ्गल पाप और पुण्य समस्त भारका समर्पण करते तथा अपने प्रशंसित गुणको संग्रह आलिङ्गन न कर उसे ईश्वर-दत्त समझ उन्हींके कार्य्यमें सम्मिलित करते हैं, वे ही श्रद्धावान निरहंकारी कर्म्मयोगी, पुरुषोत्तम भगवानके प्रियतम सखा और शक्तिके उत्तम आधार हैं और उन्हींके द्वारा संसारका विराट् कार्य्य निर्दोष रीतिसे सम्पन्न होता है। अन्यान्य धर्मोंके आविष्कार करनेवाले भी ऐसे ही श्रेष्ठ योगी थे। अर्जुन भी उसी तरह आत्म समर्पण करनेमें सदा सचेष्ट थे। अर्जुनकी वही चेष्टा भगवान श्रीकृष्णकी प्रसन्नताका कारण है। जो लोग पूर्ण आत्मसमर्पण करनेकी दृढ़ चेष्टा करते हैं। वे ही गीतामें वर्णित शिक्षाके उत्तम अधिकारी हैं। श्रीकृष्ण उनके गुरु और सखा होकर उनके इस लोक और परलोकका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

श्रीभगवद्गीताकी भूमिका ।

अर्थात्

गीताका महत्त्व, उपदेश, रहस्यादि विचार ।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूप तथा लीलादि चिन्तवनके साथ ही उनकी महिमाको तथा उनके उपदेशामृतको सर्वोपरि समझकर उनमें अहर्निश चित्तवृत्ति लगाये रखनेके लिये श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीताका अनुशीलन आवश्यक है यह धारणा होनेसे इन शास्त्रों पर प्रवचन करना, इन शास्त्रोंका अध्ययन कराना तथा इन्हीं शास्त्रों पर यथासमय कुछ लिखते रहना, इसीमें इस लेखकको आनन्द है। अपने ही सुख और आनन्दके लिये इस ग्रन्थमालाका सम्पादन तथा प्रकाशन कर रहा हूं। जहां पर्यन्त उनकी इच्छा है, जहां पर्यन्त अनुकूल संयोग है। वहां पर्यन्त यह ज्ञानसत्र चालू रहेगा। भगवान् स्वयं समर्थ है, भगवान् ही कर्ता हैं, लेखक तो निमित्त मात्र हैं। इस शरीरसे उसे जो सेवा लेनी है वह ले रहा है। इस सत्कार्यमें मैं अपनेको कर्ता नहीं मानता, इस सत्कार्यसे कोई ऐहिक आयुष्मिक फलादिकी तृष्णा भी नहीं रखता, उनका कार्य समझकर तदर्थ कर्म तत्प्रेरणया, संशाधित हो वह उसीके

श्रीचरणोंमें सुसमर्पित हो रहा है। उन्हींकी बातें उन्हींको सुना रहा हूं। मंगलाचरणमें यही उच्चार किया जाता हैं कि—

श्रूयतां देवदेवेश नारायण जगत्पते ।
त्वदीयेनावधानेन कथयिष्ये शुभाः कथाः ॥

श्रीभगवद्गीता सर्वोपनिषद्का सार हैं, श्रीभगवद्गीता सर्व ज्ञानका सार हैं, श्रीभगवद्गीता सर्वधर्मका सार हैं। श्रीभगवद्गीता ज्ञानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका विज्ञान हैं। श्रीभगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णकी वाङ्मयीमूर्ति है। ब्रह्मतत्व, प्रकृतितत्व, जीवस्वरूप, जगत्स्वरूप समझानेके साथ २ कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगादि विविध विषयोंके तत्वको समझाना यह भगवद्गीताका लक्ष्य हैं। परम अभ्युदय तथा निःश्रेयस्की सिद्धिके निमित्त प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्तिमार्गके जिन उपदेशोंको हमें जाननेकी आवश्यकता है, उन्हीं उपदेशोंको श्रीभगवद्गीता स्पष्टरूपसे समझाती हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको यथाधिकार प्राप्त करानेवाला यह गीता-कल्पवृक्ष हैं, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी भक्तोंके ग्रहण करने योग्य अनेक बातें इस शास्त्रमें स्पष्ट कही गयी हैं। गीता ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रोंको स्वधर्मका उपदेश देती हैं, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासीको आश्रम मर्यादाका पालन करनेके लिये प्रोत्साहन देती हैं, यहां तक कि नरनारी सभीको "स्वधर्मे निधनं श्रेयः। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य। नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म कर्तुमिहार्हसि" इत्यादि, सामान्य वाक्योंसे पूर्ण प्रबोध देती है। गीताका यज्ञविभाग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग श्रद्धात्रयविभाग, वर्णधर्म,

त्यागन्यासविभाग, यज्ञदानतपादिविभाग प्रभृति विविध विभागों के विचारोंको पढ़कर प्रत्येक धर्मजिज्ञासु व्यक्ति गीताज्ञानकी पुनः २ प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता, श्रीभगवद्गीतामें वैराग्य-प्रकरण, ज्ञानप्रकरण, भक्तिप्रकरणके साथ साथ योग प्रकरणादि प्रकरणोंको हम श्रद्धापूर्वक विचारते हैं तब गीता सर्वधर्ममयी, गीता सर्वशास्त्रमयी एवं गीता सर्वज्ञान प्रयोजिका है यह माहात्म्य वाक्यकी सार्थकता अनुभव करते हैं। हम गीताके महत्त्व पर तथा उसके उपदेश एवं रहस्य पर विचार करनेके समय एक प्रकारसे प्रोत्साहित होकर पुनः स्तंभित हो जाते हैं। विचार होता है कि अहा! गीता कितना महान् एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ है! अवश्य इसकी महत्ता तथा तत्वको स्पष्टरूपसे हम वर्णन करेंगे; किन्तु उन विषयोंपर गंभीरतासे विचार करने पर अपनी योग्यता तथा शक्तिकी ओर ध्यान देते हुए स्थिर हो जाते हैं। गीताके एक एक शब्द पर, एक एक वाक्य पर, एक एक श्लोक पर तथा विषय पर वृत्ति स्थिर हो जाती है। उसके रहस्य एवं सारपर विचार करते करते एक प्रकारकी मग्नावस्था—संप्रज्ञातावस्था प्राप्त हो जाती है। आगे लिखनेकी या कहनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती-हिम्मत ही नहीं रहती, यह इन पंक्तियोंके लेखक ही नहीं अन्यान्य विचारकोंका भी यही अनुभव है।

श्रीभगवद्गीताकी भाषा कुछ सरल मालूम होती है; किन्तु उसका—भाव—रहस्य दुर्विज्ञेय है। इस अल्पाकार ग्रन्थमें एक साथ सम्पूर्ण धर्मतत्व समुदाय दार्शनिक तत्व, समस्त उपनिषदका सार संक्षेपमें सूत्राकार तथा क्वचित् वृत्तिरूपसे ग्रथित

हुआ है, गीता माहात्म्यमें स्पष्ट लिखा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधिर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

जो सुधि है-प्रकृत पण्डित हैं, जो समस्त दर्शनशास्त्र तथा सर्वधर्मशास्त्रका पारदर्शी हैं । उनको गीताका अर्थ समझनेमें आसकता है । वे ही इस महत् गीतामृतका पान करके कृतार्थ हो सकते हैं; किन्तु दूसरोंके लिये गीतार्थका ग्रहण प्रायः दुःसाध्य कहा जा सकता है । जो महान् पण्डित हैं उनके बीचमें भी गीतार्थ सम्बन्धमें मतभेद देखा जाता है । जब भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य, श्रीरामानुचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमध्वाचार्य प्रभृति आचार्य तथा उनके अनुयायी एवं स्वतन्त्र विद्वानोंने भी गीताके कई स्थलमें विभिन्न अर्थ किये हैं, तब गीताके वास्तविक अर्थको जाननेके उद्योगमें हमें हताश होना पड़ता है । जो स्वामी शंकराचार्यजीके अनुयायी हैं वे उनके अर्थको ग्रहण करके संतुष्ट होते हैं, इसी प्रकार जो स्वामी रामानुचार्य प्रभृति वैष्णवाचार्योंके अनुवर्ती हैं वे अपने आचार्यचरणके अर्थसे सन्तुष्ट होते हैं; किन्तु जो प्रकृत तत्त्वजिज्ञासु हैं और किसी मतविशेष अथवा व्यक्तिविशेषके पक्षपाती अथवा अन्धके समान अनुवर्ती नहीं हैं और यथार्थ सिद्धान्त क्या है ? यह निरपेक्षभावसे जानना चाहते हैं वे व्याख्याकारोंके परस्पर विरोधी अर्थमेंसे कौनसा अर्थ ग्राह्य और कौनसा अर्थ त्याज्य यह सजहमें स्थिर नहीं कर सकते । बहुतसे जिज्ञासु प्रकृत अर्थ ग्रहणके प्रयत्नमें एक प्रकार से हताश हो जाते हैं ।

जो गीताके किसी भाष्य अथवा व्याख्यानको पढ़कर अपनी ज्ञानबुद्धिके ऊपर निर्भर करके गीताका अर्थ जानना चाहते हैं वे पद पदमें बाधा प्राप्त होते हैं। वे अनेक स्थलमें परस्पर विरोधी भाव-विपरीत अर्थ देखते हैं जिसकी मीमांशा करनेमें समर्थ नहीं होते। वे अनेक स्थलमें गीताके गूढ़रहस्यको सर्वथा समझ नहीं सकते। उदाहरण रूपसे महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध विद्वान् तैलंग महोदयका नाम लिया जा सकता है। उन्होंने अपनी गीतानुवादकी उपक्रमणिकामें लिखा है कि "गीता अनेक परस्पर विरोधी उपदेशोंसे पूर्ण हैं। जिस प्रकार भगवान् एक स्थलमें कहते हैं कि मुझे प्रिय अथवा द्वेष्य कोई नहीं हैं और अर्जुनको दूसरे स्थलपर कहते हैं कि तुम मेरे प्रिय भक्त और सखा हो। भगवानने अन्यत्र यह भी कहा है कि मेरे भक्त मुझे प्रिय हैं। कहांपर भगवान् अपनेको अकर्ता, आप्तकाम कहते हैं और कहांपर कहते हैं कि मेरे प्रति द्वेष करनेवाले उन क्रुर लोगोंको पुनः पुनः आसुरीयोनिमें फेंक देता हूं। दुष्टोंका संहार करता हूं, यह भी कहते हैं और फिर यह भी कहते हैं कि "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः" लोकसंहारक विवृद्ध कालस्वरूप मैं हूं। भगवान् किसी स्थानमें कर्मकी प्रशंसा करते हैं, किसी स्थलमें कर्मत्यागकी स्तुति करते हैं इस लिये अर्जुनको वार वार प्रश्न करके कौनसा श्रेयपथ है यह जाननेका प्रयत्न करना पड़ा है। फिर भी कोई बात स्पष्ट कही गयी है यह कहा नहीं जा सकता। ऐसा होनेसे विभिन्न व्याख्याकारगणके मध्यमें इतना मतभेद हो गया है। गीतामें इस प्रकार परस्पर विरुद्ध और आपात

असंलग्न बातें अनेक स्थलमें देखनेमें आती है। सहजमें जिसका सामंजस्य नहीं किया जा सकता और कोई संगति अर्थ समझनेमें नहीं आती। कई स्थलमें कोई उपदेशका अर्थही नहीं स्पष्ट होता है। जहां सर्व विरोधकी मीमांसा अथवा सामंजस्य हो वैसा स्थान न प्राप्त होनेसे कोई इन समस्त विरोधकी मीमांसा नहीं कर सकता "श्रीयुत् तैलंगही नहीं ओर भी कई विद्वान् गीतोक्त उपदेशमें संदेह रखते हैं। जिससे हमें स्पष्ट कहना पड़ता है कि "मुनिनाञ्च मतिभ्रमः" मनन शीलोंके मनमें भी संदेह रहता है वहां दूसरोंकी क्या दशा! गीताके निष्काम कर्मयोग, अनन्य भक्तियोग और अद्वैतज्ञानको समझनेमें अच्छे अच्छे विद्वानों की मति भ्रमित हो जाती है। गीताको माननेवाले, गीता पर टीका लेखनेवाले विद्वानोंकी जहां यह अवस्था है वहां साधारण वक्ता श्रोता सन्देहको प्राप्त हों इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो अपनी बुद्धिके ऊपर भरोसा रखकर गीता जानना चाहें और जो तर्क तथा युक्तिके द्वारा गीताके उपदेशकी समालोचना करेंगे वे पद-पदमें भूलें करेंगे। गीतामें युक्तियां नहीं दी गयी हैं। विविध विरोधी मतोंका विचार करके कौनसा मत ग्राह्य है इस बातकी मीमांसा नहीं की गयी हैं; किन्तु भगवानका जो वास्तविकमें सिद्धान्त है वही अर्जुनको समझाया है।

आर्यशास्त्रकी यही प्रणालिका है। श्रुति तथा स्मृतिशास्त्रमें इसी प्रकारकी रीति है। शास्त्रमें कोई तर्क युक्तिको स्थान नहीं। पिता जिस प्रकार पुत्रको उपदेश देता है, गुरु जैसे शिष्यको उपदेश देते हैं। शास्त्र भी उसी प्रकार हमें उपदेश देता है।

'यह करो और यह मत करो' यह विधि निषेधवाद अथवा 'यह ऐसा है और यह ऐसा नहीं है' इस प्रकारका अर्थवाद युक्तिके द्वारा शास्त्रमें स्थापित नहीं हैं। क्यों यह करना चाहिये? और यही अर्थ जानना होगा इस प्रकार युक्तिके द्वारा शास्त्रमें समझाया नहीं गया है। जब पिता पुत्रको उपदेश दे अथवा आदेश करें कि "यह करो" तब वह सुयुक्तिपूर्ण वक्तृताके द्वारा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका तत्व, उस युक्ति समझनेके अनधिकारी पुत्रको नहीं समझाया करता। शास्त्रका उपदेश भी ठीक इसी प्रकारका हैं। परम करुणामयी मातृरूपिणी, श्रुति अधिकारी श्रोताको इसी प्रकार उपदेश देती है। कहां पर गुरु शिष्यकी कल्पना करके और कहां कथोपकथन छलसे, कहां रुपक और कहांपर दृष्टान्तके द्वारा यह समस्त उपदेश लिपिबद्ध किया गया है। श्रीमद्भगवद्-गीतामें भी इसी प्रकार उपदेश दिया गया है। गीता सर्वोपनि-षत्सार होनेसे श्रुतिरूपा है और गीता महाभारतान्तर्गत वेदव्यास द्वारा ग्रथित होनेसे स्मृति है। वेदान्तदर्शनमें 'स्मृतिश्च। अपि च स्मर्यते' प्रभृति सूत्र द्वारा सर्वत्र गीता ही उपलक्षित है। श्रुति माताका उपदेश स्वतः प्रमाणरूपसे माननीय है उसमें युक्ति-तर्ककी आवश्यकता नहीं, श्रुतिसाररूपा गीताके उपदेशको स्वतः प्रमाण वेदवत् माननीय मानकर उस पर तर्क युक्ति नहीं लगानी। 'श्रद्धा-वान् लभते ज्ञानम्। संशयात्मा विनश्यति'। प्रभृति गीतावाक्यका अनुसन्धान रखकर गीताका स्वाध्याय करना चाहिये। गीताका उपदेश स्वयं सर्व संशयोंके उच्छेद करनेमें समर्थ है। इससे अधिक कहनेकी यहांपर आवश्यकता नहीं।

श्रीभगवद्गीताका उपदेश सर्वोपनिषदका सार रूप होनेसे और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका उपदेश रूप होनेसे उस शास्त्रके उपदेशमें अणुमात्र भी शंकाको-सन्देहको अवकाश नहीं। शास्त्र-प्रमाणको सांख्यकार आप्तागम कहते हैं। शास्त्रमें श्रद्धा रखनेसे विश्वास करनेसे ही हमारा श्रेय मार्ग उन्मुक्त हो सकता है। भगवानकी आज्ञा है कि—

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्रका सार रूप शास्त्र है। इसमें दिया हुआ उपदेश अभ्रान्त है। कर्तव्यका यथार्थ ज्ञान शास्त्रके द्वारा ही प्राप्त होता है। स्वेच्छाचारी बनना उचित नहीं। स्वेच्छाचारानुसार कार्य करनेसे काम, क्रोध, लोभके वशवर्ती हो जायेंगे। भगवान् वेदव्यासजी लिखते हैं कि शास्त्र ही साधुगण-के चक्षु हैं। वे शास्त्रके प्रभावसे ही सबकुछ समझ सकते हैं। अतएव तुम उन शास्त्रोंका अनुशीलन करो। (शान्तिपर्व अध्याय २८) शास्त्रबुद्धि द्वारा ही कर्तव्य अकर्तव्यका निश्चय हो सकता है; इस लिये शास्त्रकी आवश्यकता है (शान्तिपर्व १२०) शास्त्रज्ञान विहीन अपरिपक्व बुद्धि मूढ व्यक्तिको किसी विषयका यथार्थ ज्ञान अथवा युक्तिके अनुसार किसी कार्यको करनेमें सामर्थ्य नहीं होता। वे शास्त्रके दोषानुसंधान पूर्वक उसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये उद्योग करते हैं और अर्थ शास्त्रमें

उनका ज्ञान प्राप्त करना व्यर्थ हैं। जो मूर्खके समान वाक्य बाण धारणपूर्वक अन्यके अपवाद द्वारा स्वीय विद्याके गौरवको प्रकट करनेको उद्योग करता है उनको विद्यावणिक् समझना उचित है। कार्याकार्य सम्बन्धिमें शास्त्रका प्रामाण्य मानना चाहिये। शास्त्रका विधि निषेधवाद प्रमाणभूत है इतना ही नहीं; किन्तु शास्त्रोक्त अर्थवाद भी प्रमाण है। वेदान्तदर्शनके भाष्योपक्रमणिकामें स्वामी शङ्कराचार्यजीने तथा अन्य भाष्यकारोंने भी समझाया हैं कि शास्त्रमें सर्वथा विश्वास करो। शास्त्रमें और शास्त्रज्ञ सद्गुरुके उपदेशमें श्रद्धा होनेसे ही परम ज्ञान प्राप्त होता है। भगवानने भी गीतामें यही कहा है—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

जो श्रद्धावान् नही हैं, जिनका सन्देह दूर नहीं हुआ है उनको ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वह विनष्ट होता है। 'संशयात्मा विनश्यति।' अतएव हमें यदि त्रिलोकीके अन्तर्गत अतीन्द्रिय विषयका ज्ञान प्राप्त करना हैं तो वेद और गीताके समान शास्त्रोंके ऊपर विश्वास रखना होगा। वेदको प्रमाणरूपसे मानना होगा। यदि त्रिलोकीके अतीत राज्यका संवाद जानना है, उस राज्यमें प्रवेश करनेके मार्गका अनुसन्धान करना हैं तो उपनिषद् तथा गीता इन पराविद्यारूप शास्त्रका शरण लेना होगा। श्रुतिमें स्पष्ट लिखा हैं कि—

द्वे विद्ये वेदितव्य इति परा चैवापरा च। तत्र,
अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्ववेदः।
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिसमिति
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मुण्डकोपनिषद्)

पराविद्याको प्राप्त करनेके लिये उपनिषद् और गीता प्रमाण-रूपसे मानने योग्य है। श्रीमद्भगवद्गीताको सभी आचार्योंने तथा विद्वानोंने प्रमाणरूपसे माना है और उसके उपदेशमें किसी प्रकार-की अपूर्णता अथवा शंका करने योग्य अथवा परस्पर विरोधी बात नहीं है। हमारी समझकी न्यूनतासे तथा गीताके उपदेशकी प्रणालिकाको न जाननेसे तथा शास्त्रसमन्वयका अनुभव न होनेसे ही उपरोक्त प्रकारके सन्देह उत्पन्न होते हैं। गीताके उपदेशको यथार्थरूपमें समझनेके लिये इस शास्त्रमें श्रद्धायुक्त बनकर इसका बारबार श्रवणकीर्तन तथा मननादि करना चाहिये। श्रद्धायुक्त बनकर ही हमें गीताके उपदेश पर विचार करनेसे लाभ होगा इस ज्ञानामृतका पान करनेवाला श्रद्धायुक्त 'सुधिः' ही हो सकता है अन्य नहीं। इस विषयमें श्रीयुक्त भूपेन्द्रनाथ सन्याल महोदयने अपनी गीताकी उपक्रमणिकामें जो विचार किया है वह यहांपर अनुवादित कर देना उचित समझता हूं। (श्रीमान् भूपेन्द्रनाथ सन्याल महोदयने आध्यात्मिकादीपिका नामक गीताकी व्याख्या) बंगला भाषामें अभी प्रकाशित की है।

श्रद्धान्वित होकर शास्त्रपाठ न करने पर शास्त्रकी कोई बात समझनेमें नहीं आती और समझने पर भी पाठकोंका उससे अधिक उपकार नहीं होता। इस सम्बन्धमें ऋषियोंका उपदेश है कि "तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेन सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्।" वास्तविकमें सद्वृत्तिके अनुष्ठानसे ही जीव चरित्र बल प्राप्त करता है। सुचरित्र न होनेपर कोई अनन्त ज्ञानसिन्धु-के एक बिन्दुका भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। चरित्रवान्

श्रद्धालु व्यक्ति ही भगवद्भक्ति प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जिसके द्वारा जीव कृतार्थ होता है। जीवनको कृतार्थ करना हो तो सम्यक् आचारवान्, संयमी और साधुजीवन सम्पादन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। दुश्चरित्र, अशान्त और बहु-वासना विडम्बित व्यक्ति कभी भी अनिर्देश्य, सर्वेन्द्रियागम्य और परमध्रुव उस सत्यस्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। इस लिये शास्त्रदृष्टि आवश्यक और उसमें श्रद्धाकी भी आव-श्यकता है।

शास्त्रपाठ करते हुए भी लोग मूर्ख रहते हैं इसका कारण यह है कि ग्रंथके अभ्यास द्वारा ही शास्त्रपाठसे पूर्ण सार्थकता प्राप्त नहीं होती। शास्त्रपाठ करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये यदि हृदय उत्साहित न हों, शास्त्रपाठ करके भी यदि ज्ञान और भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील न हों तो शास्त्रपाठ श्रम मात्र है शास्त्राभ्यासके द्वारा भगवान अथवा आत्माके सम्बन्धमें हमें अवश्य परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु जहां पर्यन्त साधनके द्वारा तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता अथवा शास्त्रप्रतिपादित ज्ञानका यथार्थ अनुभव नहीं होता, अथवा शास्त्रपाठ करके अध्यात्म विषयके ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यदि समधिक चेष्टा उदय नहीं होती तो समझना चाहिये कि हमारा परिश्रम व्यर्थ गया। प्रकृत, सत्यज्ञानके उदय न होनेसे शास्त्रज्ञान केवल अभिमानकी अभि वृद्धि करता है, वह यथार्थ शान्ति नहीं दे सकता। गुरुवेदान्त वाक्यमें श्रद्धावान पुरुष—साधनमें सचेष्ट होनेवाले उस साधकका जीवन कृतार्थ होता है।

हमारे देशमें अनेक शास्त्रग्रंथ हैं उनका अध्ययन जीवनमें समाप्त नहीं कर सकते। इस लिये "यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्" जो समस्त शास्त्रका सार है उसी सार भागको ग्रहण करना बुद्धिमान पुरुषका कर्तव्य है। गीताग्रंथ 'सर्वशास्त्र सारभूता' इसलिये एकमात्र गीता पढ़नेसे ही सर्वशास्त्रके पाठका फल मिलता है। जीवन क्या ? जीवनका लक्ष्य क्या ? जन्म क्या ? मृत्यु क्या ? आत्मा क्या ? प्रकृति क्या ? किस उपायावलंबनसे जीवन प्रकृत लक्ष्यपथमें अग्रसर हो सके ? साधनके बहुविध अन्तराय और वे सब अन्तराय किस प्रकार दूर किये जा सके ? इसका उपाय और भगवद्प्राप्ति अथवा ज्ञानप्राप्तिका साधन वीरकेसरी अर्जुनको उपलक्ष करके श्रीभगवानने जगतके और मानव जातिके कल्याणके लिये गीतामें इस प्रकारके अनेक उपदेश देनेकी कृपा की है।

कुरुक्षेत्रके समरांगणमें शोकमोहाभिभूत अर्जुनके अज्ञान-जनित संशयका विनाश कर उसको जो अपूर्व उपदेश दिया था वह चिरदिन पर्यन्त मुमुक्षु साधकोंका कण्ठहार रूपसे परिशोभित होता आया है। यह उपदेश-कथा ही श्रीकृष्णार्जुन संवाद। यही श्रीभगवद्गीता नामसे सुपरिचित। महाभारतके भीष्मपर्वमें यह सन्निवेशित है। भीष्मपर्वके त्रयोदशाध्यायसे गीतापर्वाध्याय-का आरम्भ है। गीतापर्वाध्यायसे पचीसवें अध्याय पर्यन्त गीतो-पनिषद् विराजमान है। आजकल अनेक सज्जनोंको साधनमें सचेष्ट देखने पर भी उनका मन वर्णाश्रमधर्मका विरोधी रहता है जिससे वेदविरुद्ध मत हृदयमें बढ़ता जाता है। यदि वे गीताके

उपदेशसे वे समझ सकेंगे कि स्वाधिकारशून्य समस्त धर्मचेष्टा निष्फल है । शास्त्रमें अधिकारीकी शक्तिके अनुसार साधन व्यवस्था है । कोई स्वेच्छानुसार मार्गका अवलम्बन नहीं कर सकते । भगवानने उच्च स्वरसे यही अर्जुनके सामने घोषणा की कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते" हे अर्जुन ! तेरा कर्ममें अधिकार है । कर्मत्याग करके सन्यास ग्रहण करनेसे काम नहीं चलेगा । जो जिस प्रकारका अधिकारी हैं उसको तदनुकूल साधन करनेका गीता उपदेश देती है । इससे गीता सब प्रकारके साधकके लिये अध्ययन करने योग्य हैं । गीता एक परिपूर्ण उपनिषद् हैं । इसको सर्वोपरि उपनिषद् कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं हैं; क्योंकि इसमें ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व सम्यक् आलोचित है ।

गीता सरल और प्रांजल संस्कृत भाषामें लिखा हुआ ग्रन्थ होनेपर भी यह सहजमें समझनेमें आजाय वैसा ग्रन्थ नहीं है । हमारे देशके महानुभाव मनस्वी सज्जनोंने गीताशास्त्र समझानेका प्रयास किया है । अवश्य इन महानुभावोंने अपने अपने भावके अनुसार व्याख्या की हैं । श्रीशंकराचार्य्यजीने अद्वैतमतानुयायी भाष्यकी रचना की हैं और आनंदगिरी, मधुसूदन, श्रीधर, श्रीरामानुजाचार्य, नीलकंठ, बलदेव विद्याभूषण, विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति विद्वानोंने गीताके भाष्य और टीकाओंकी रचना की है । अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तके मानने वाले आचार्य एवं तदनुयायी विद्वानोंने भगवद्गीताके ऊपर टीकायें लिखी हैं । इन सब व्याख्याकारोंने अपने स्वाभिमत मतानुसार गीताका मर्म समझानेका प्रयत्न किया है । और उन सबका

प्रयत्न एक प्रकारसे सफल हुआ है। इनमें से कोई कोई व्याख्याकार गीताके उपदेशको अपने सिद्धान्तके अनुसार समझानेका उद्योग करते हैं जिससे मूल गीताके सम्बन्धसे जो निष्कर्ष निकलता है, उसको पूर्णतया सभी समझे हों; किन्तु गीताके अमुक उपदेशको लेकर वे अपने अनुयायी जनों को तद्नुकूल साधनमें प्रवर्त करके उनको कल्याणका पथ प्रदर्शित करते हैं। गीताके सम्पूर्ण उपदेशके आशयको समझना और तदनुसार साधन करना सहज नहीं है। फिर भी गीताके जिस उपदेशको लेकर साधनपथ पर जो साधक प्रवृत्त होगा उसको भी लाभ ही होगा। भगवान् जिस प्रकार विराट और विशाल हैं उनका उपदेश भी इसी प्रकार विराट एवं विशाल है। इससे श्रोता विविध प्रकारके अधिकार सम्पन्न है उसी प्रकार गीताका उपदेश भी-इसकी कथनप्रणालीका विविध प्रकारकी है। जिस प्रकार अगाधजल समुद्रमेंसे पात्रानुरुप जलार्थी जल लाता है उसी प्रकार इस ज्ञान सागरमेंसे अपने अधिकारानुकूल जिज्ञाशु ज्ञान प्राप्त करता है। गीताकी यही श्रेष्ठता है कि वह सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके कल्याणका मार्ग दिखलाती है।

श्रीभगवद्गीता भगवती भागीरथीके समान सब प्रकाके लोगोंको पवित्र करती है। जिस प्रकार लोक पवित्र भागीरथीमें अवगाहन कर सुस्नात होकर अपने अपने पात्रमें उसी निर्मल जलको ले आते हैं उसी प्रकार इस पुण्यपुता गीताप्रवाहिनीके मध्यमें प्रवेश करेगा, जो उसमें प्राणभरकर डूबकी लगावेगा वही अपने मतके अनुसार अपना कार्य सिद्ध करनेके अनुसार प्रयो-

जनीय पानीय संग्रह कर जांय उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी से गीतामें अद्वैतवादी परमज्ञानी अद्वैतवादका जयघोष बजरहा है ऐसा सुनते हुए मुग्ध हो जाते है, और भक्त अद्वैतवादी भी गीतामें भक्ति प्रेमकी पराकाष्ठाका अनुसंधान पाकर आनन्दमें प्रफुल्लित हो जाते हैं। जो द्वैतवादी हैं वे भी इसके अन्दर नव-जलधर श्यामसुन्दरकी अपूर्व मोहनवंशीकी कलध्वनि सुनकर भावावेशमें मुग्ध होकर नाचते रहते हैं। कर्मवादी भी इसमें कर्मकी अपूर्व व्याख्या देखकर "गीता हमारी बात कर रही है" ऐसा कहते हुए उच्चस्वरसे इसकी बातोंको जगतमें घोषणा करके दिगदिगन्तमें उसका प्रचार करते हैं।

अब सम्यक् विचार करके देखो, गीतामें वस्तुतः क्या प्रतिपादन किया गया है ? और यह किसके लिये रचित है ? गीता यथार्थ ज्ञानी, भक्त, कर्मी, संसारी, सन्यासी सभी सम्प्रदायके लोगोंके लिये ही लिखित है। सभी अपने अपने मतानुकूल भाव देखकर कृतार्थ होते हैं। कारण यह है कि जगतके एकमात्र सुहृद् और जो गुरु हैं क्या वे सबकी उपेक्षाकर केवल एक ही सम्प्रदाय विशेषकी सुविधाके लिये उपदेश दे सकते हैं ? यह कदापि संभव नहीं। गीता सार्वभौमिक ग्रन्थ है इस लिये सभी सम्प्रदाय अपने अपने मतके परिपोषक भाव इसमें देखकर स्तंभित हो जाते हैं। स्तंभित होनेकी तो बात ही है। कितनी बड़ी विराट शक्ति देखकर भगवानने यह उपदेशमालिका ग्रथित की है कि उस असीम युगसे आज पर्यन्त जगतके विविध मतावलम्बी लोग सभी इसके अन्दर अपने परिपोषक मतको देखकर

विस्मयाभिभूत हो गये हैं। गीताकी यही विशेषता है। यदि कोई प्रश्न करेगा कि यह कैसे सङ्गत हो सकता है ? अद्वैतवाद सत्य है तो द्वैतवादको असत्य कहना ही होगा। भगवान् निराकार होनेसे साकारवादका समर्थन नहीं किया जा सकता ! यदि वे साकार हैं तो निराकारवाद केवल मनकी कल्पना। यदि कर्मही एक मात्र अनुष्ठेय है तो भक्ति और ज्ञान और भक्तिके द्वारा भगवान् लभ्य हैं तो आध्यात्मिक राज्यमें कर्मको स्थान नहीं हैं और वास्तविकमें कर्म उसका विरोध किये विना रह नहीं सकता अथच कर्मके सिवाय संसार स्थिर। ये सभी तर्क गीतामें मीमांसित हुए हैं। साधन न करके केवल तर्क करना वितण्डावाद अथवा केवल कलहमात्र ! इसके द्वारा कदापि सत्य निर्णीत नहीं हो सकता। अवश्य युक्तिकी अथवा तर्ककी प्रयोजनीयता नहीं है यह बात भी उचित नहीं हैं। शास्त्रानुकूल युक्ति ही ग्रहणीय है। श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं कि—

"श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याप्यभ्युपेतत्वात्"

अर्थात् युक्तिकी आवश्यकता इसी लिये है कि वह श्रुति समझानेके विषयमें सहायता करें।

भगवान् अथवा आत्माको जानना हो तो साधन जीवनमें जिस प्रकार ज्ञान, भक्ति, कर्म इन सबकी आवश्यकता है उसी प्रकार साधनकी अवस्था विशेषमें भगवान् अद्वैतभावसे, द्वैताद्वैत भावसे, अथवा द्वैत, शुद्धाद्वैतभावसे भी ग्रहणीय हो सकते है। जिससे ऊसे साकार भी कह सकते हैं और निराकार भी कह सकते हैं। जिस प्रकार नदीसे जल लेनेवालेका जैसा पात्र

होगा उतना ही जल वह ग्रहण कर सकता है इसी प्रकार हमारे मनबुद्धिके आधार और गठनभेदसे हम भगवानको हमारे मनोनुकूल भावसे ग्रहण कर सकें इसमें दोष नहीं है। किन्तु यह ठीक नहीं हैं कि हमारे मनोनुकूल एक भाव ही यथार्थ है और हमारी भावनाके विरुद्ध होनेके कारण अन्य भाव ठीक नहीं हैं। समस्त भाव ही उचित है, समस्त ही सत्य है। भगवान् इतने विशाल और इतने विराट हैं और वे अनन्त भावमय हैं इसीसे अनन्त भावके किसी एक भावको ग्रहण करके साधन किया जा सकता है और वह कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता। फिर यदि कोई कहे कि उनका मत ही सत्य अन्य सब असत्य यह बात भी वास्तविकमें मिथ्या है। यह बात खूब ध्यानमें रहे कि ईश्वर सर्वत्र और समस्त जीवोंके परम सुहृद् हैं। समस्त भावुक और समस्त साधककी सुविधाके लिये वे सब कुछ बन बैठे हैं।

"सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते"

इसीसे उन अखिलजनमानवके हृदयेश्वर सर्वेश्वरके समीप पहुँचना हो तो उनके समस्त भावोंको जाननेके लिये जो विविध पथ हैं उनमेंसे एकको भी अस्वीकार करनेसे नहीं चल सकता और कोई साधक उन भावसमुहमेंसे किसी एक भावका अवलम्बन करके अपना जीवन सार्थक कर सकता है। एक ही भावको धारण करने पर उसके जीवनमें पुनः क्षोभ करने जैसा कुछ भी नहीं रहता; किन्तु हम मूढ़तावश होकर इस भूलका प्रचार न करें कि हमने उस परमात्माको प्राप्त करनेका जो मार्ग ग्रहण किया है वही एक मात्र सत्य मार्ग है अन्य सब मत भ्रान्त हैं।

भगवानमें एक निष्ठा प्राप्त करनेके लिये तुम उसके अनन्त भावमेंसे एक आध भावको लेकर उसमें मग्न हो जाओ, इसीसे तुम कृतार्थ बन जाओगे; किन्तु तुम यदि परमतकी निन्दामें अपना समय नष्ट करोगे तो तुम्हारा अपना साधन निष्फल जायगा। भगवान् गीताके नवमाध्यायमें कहते हैं कि—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।

दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा मेरेमें अनन्यचित्त होकर मुझको भूतादिका आदि अथवा कारण किंवा नित्यस्वरूप जानकर अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन पूर्वक आराधना करते हैं। उपासना भी त्रिविध है। मानसिक, वाचिक और कायिक। कोई दृढ़व्रत होकर प्रयत्नके साथ सर्वदा अभेदचिन्तन द्वारा (यह मानसिक) अथवा कोई स्तवमन्त्रादि द्वारा कीर्तन करके (यह वाचिक) अथवा कोई भक्ति सहित प्रणाम द्वारा (यह कायिक) मेरी उपासना करते हैं। कोई कोई ज्ञानयज्ञके द्वारा अर्थात् 'समस्त ही वासुदेव' इस प्रकारके ज्ञान द्वारा (केवल विचार द्वारा ही सर्वत्र ब्रह्मदर्शन नहीं होता ब्रह्मदर्शन करना हो तो विचारशून्य बनना होगा) मेरी उपासना करते हैं अथवा कोई अभेदभावना द्वारा अथवा पृथक् भावना द्वारा अथवा सर्वात्मक भावके द्वारा मेरी उपासना करते हैं।

जीवनका एकमात्र लक्ष्य श्रीभगवान् हैं वे हमारे सबके आत्मा और प्रियतम हैं। वही चराचर व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा ब्रह्म। इस ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा भगवच्चरणका स्पर्श हुए बिना जीवकी मुक्ति नहीं। भारतवर्षमें मुक्तिकी प्राप्तिके लिये प्रधान तीन उपाय प्रचलित हैं कर्म, भक्ति और ज्ञान। इन तीन मार्गों-के सिवाय जीवको संसार निवृत्ति नहीं हो सकती।

संसारको हम क्यों प्यार करते हैं? इस विषयमें यथार्थ विचार करनेवाले हम अधिक जन नहीं देखते, संसार प्यारा लगता है, संसार सब कोई करते हैं; गतानुगतिक भावसे इसीसे संसार हम करते आते हैं; किन्तु यह शास्त्रानुकूल बुद्धि नहीं, शास्त्र कहता है कि संसार करना होगा, आत्मतृप्तिके लिये नहीं; किन्तु श्रीभगवान-की प्रसन्नताके निमित। हम सब कोई संसार करते हैं। इस संसार-का खेल खेलते हुए एक दिन समझ सकेंगे कि हम संसारके लिये संसार नहीं करते। हम उसको प्राप्त करेंगे, उसको जानेंगे, इसी लिये संसारमें आये हैं, हमारी व्यक्तिगत आसक्ति अथवा अज्ञान मोह ही इस ज्ञानदृष्टिमें बाधक हैं। यह बाधा यदि न होती तो हम समझ सकते कि हम किसको चाहते हैं और कौन हमें सबकी अपेक्षा प्रियतम! वही भगवान, वही वस्तुमात्रकी सत्ता अथवा आत्मा। श्रुति कहती है कि—

न वा अरे पुत्रकामाय पुत्रः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति॥

अधिकार भेदसे इस आत्मतत्त्वको जाननेके लिये तीन पथ हैं यह प्रथम ही कहा गया है। श्रीभागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीके प्रति कहते हैं कि—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

जीवके कल्याणके लिये भगवानने ये तीन उपाय बताये हैं ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीन उपाय अथवा मार्गके शिवाय अन्य मार्ग-पथ नहीं हैं। इन तीनों मार्गकी बात गीतामें सम्यक् समझायी गयी है। जिस प्रकार ये कल्याण मार्ग तीन हैं उसी प्रकार उसके अधिकारी भी तीन प्रकारके हो सकते हैं। अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रपथ कल्पना कर लेना किसी कल्याणकी इच्छावालेके लिये उचित नहीं। किसीको कर्ममें अधिकार है और किसीको ज्ञानमें अधिकार है, इस लिये बलपूर्वक एकका अधिकार दूसरेके शिरपर रख देना उचित नहीं, ऐसा करने पर अनर्थ ही होगा।

यह स्पष्टरूपसे स्वीकार करना होगा कि विभिन्न अधिकारी के लिये विभिन्न पथ हैं; किन्तु प्रत्येक अधिकारीको न्यूनाधिक परिमाणमें तीन ही पथका अवलम्बन करना पड़ेगा। निज प्रकृतिके अनुरुप एक मार्गका अवलम्बन करके दूसरे दो मार्गका सर्वथा अस्वीकार करनेसे पद पदमें स्खलन होगा और साधनपथमें अनेक विघ्न उपस्थित होंगे। अपने लिये कौन मार्ग उचित है यह कुछ प्रमाणमें स्वयं साधक समझ सकता है और समझनेमें असुविधा होने पर गुरुके द्वारा उसे समझना होगा यह अधिकार उन्हीं का है। हमारे आर्य्यशास्त्रमें गुरुकी आवश्यकता इसी लिये बतायी गयी है कि हम अपने कल्याणका यथार्थ मार्ग स्वयं निश्चित नहीं कर सकते। गुरुको हमारी जीवननौकाका कर्णधार बना लें। उन्हींके उपदेशानुसार चलें।

अब श्रीमद्भगवद्गीताके ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग के सम्बन्धमें संक्षेपमें विचार किया जाता है। अधिकांश लोगोंका ज्ञानमें अधिकार नहीं रहता; क्योंकि वैराग्यके विना ज्ञान मार्गमें अधिकार नहीं होता। और विषयोंके प्रति वैराग्य बहुत कम मनुष्योंको रहता है। निर्विण्ण चित्तके बिना ज्ञानका उदय होना असम्भव है। भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं कि—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

भगवद्द् विषयक ज्ञानके द्वारा जिनका वह विपरीत बोधक अज्ञान नष्ट हुआ है, आदित्य जिस प्रकार तमोनाश करके निखिल वस्तुको प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह आत्मज्ञान उसका अज्ञान नष्ट करके परिपूर्ण ईश्वरके स्वरूपको प्रकाशित करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

उसीमें जिसकी निश्चयात्मिका बुद्धि है, उसीमें जिनका आत्मभाव अर्थात् मन लगा हुआ है, उसीमें जिनकी निष्ठा अर्थात् प्रयत्न है, वही जिसके परमाश्रय एवं उनकी प्रसन्नतासे प्राप्त आत्मज्ञानके द्वारा जो निष्पाप बने है उनकी ही अपुनरावृत्ति मुक्ति होती है। जो इस प्रकारके ब्रह्मविद्ज्ञानी पुरुष है उनके लक्षण भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यं चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

जो ब्रह्मविद्‌ होकर ब्रह्ममें अवस्थित हैं वे प्रिय वस्तुको प्राप्तकर प्रहृष्ट नहीं होते और अप्रिय वस्तु पाकर विषण्ण नहीं होते, कारण कि वे असंमूढ अर्थात्‌ निवृत्तमोह और स्थिरबुद्धि।

इस प्रकार असंमूढ और स्थिरबुद्धि बने विना ज्ञान प्राप्त करना असंभव है; किन्तु यह अवस्था जगतके अत्यल्प लोगों की होती है। ज्ञानके सिवाय मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, अतएव ज्ञान प्राप्तिके लिये समस्त साधकोंको चेष्टा करना चाहिये। उस ज्ञानस्वरूपको प्राप्त करनेके लिये हृदयमें एकान्तिक अनुराग यह द्वितीय मार्ग है यह द्वितीय अधिकार ही भक्तियोग।

जातश्रद्धः मत्कथासु निर्विण्ण सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥

मेरी कथामें श्रद्धा उत्पन्न हुई है, सर्वकर्ममें निर्विण्ण और कामको दुःखात्मक समझता है; किन्तु उसका परित्याग करनेमें जो असमर्थ है—

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।

जो पुरुष अत्यन्त विरक्त नहीं हैं और अत्यन्त आसक्त भी नहीं हैं उसके लिये भक्तियोग ही सिद्धिप्रद हैं। इस भक्तियोगसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। भागवतमें लिखा है कि—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहेतुकम्॥

वासुदेव भगवानमें भक्तियोग प्रयोजित होनेसे शीघ्र वैराग्य उत्पन्न होता है, और तत्पश्चात स्वयं ज्ञान आ जाता है, किन्तु जिनको विवेक वैराग्य नहीं हैं, प्रकृत भक्ति भी प्राप्त नहीं हुई

और भगवानको प्राप्त करना चाहे उनके लिये क्या उपाय है? भगवानके सिवाय जीवन-ज्वाला शान्त नहीं होगी यह अच्छी तरहसे जानता है; किन्तु उनको प्राप्त करने योग्य मनका आग्रह अथवा व्याकुलता नहीं होती, यह देखकर अनेक साधक निराश होजाते हैं। इस श्रेणीके मनुष्योंके लिये ही योगाभ्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय हैं। अधिकांश लोग इसी श्रेणीके हैं। वे जब सब कुछ समझते हैं तब उनको वैसा आग्रह क्यों नहीं होता? उसका कारण? उनके पूर्वजन्मार्जित कर्मसूत्रोंके कारण उनका मन अत्यन्त चञ्चल और मनकी चञ्चलताके कारण वे एक विषयमें बुद्धि स्थिर नहीं रख सकते। स्थिरबुद्धिके अभावसे अज्ञान और विषयमें आसक्ति होती है। यह विषयासक्ति ही समस्त दुःखतापका मूल है। बहुविचार करनेसे यद्यपि अज्ञानमेघ कुछ क्षणके लिये कट जाता है; किन्तु वह अवस्था सर्वदा नहीं रहती, सुतरां अप्रशमित मनोवेगके निमित्त हम एकाग्रचित्तसे भगवत्स्मरण नहीं कर सकते, और इसी कारणसे प्राणकी ज्वाला शान्त नहीं होती। मानो अवश होकर मन कितने स्थानोंमें भटकता फिरता है। मनमानवको इस शतधा विक्षिप्तचित्तसे हम जानकरके भी अच्छीतरहसे जान नहीं सकते, पकड़नेको जाते हैं; किन्तु पकड़ नहीं सकते। इस समस्त अशान्तिके मूलमें रहा है प्राणका अविरत स्पन्दन-कंपन। यह प्राणका स्पन्दन जहाँ पर्यन्त रहेगा वहाँ पर्यन्त चित्तका स्थिर होना असंभव। इसीलिये प्राण जिस प्रकार स्पन्दित न हों उसके लिये क्रियायोग अथवा योगाभ्यास करना

आवश्यक। जिसके मनमें ब्रह्मवासनाका उदय नहीं होता, जो संसारको लेकर अत्यन्त व्यस्त हैं वे कर्म अथवा उसके साधनोंको लेकर रहो; किन्तु जो आसक्तचित्त और कर्मबन्धनसे मुक्तिकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हैं उनको तो निष्काम कर्मयोग का अवलम्बन करना होगा। इस निष्काम कर्मयोगकी साधना ही आत्मक्रिया अथवा योगाभ्यास। इस क्रियायोगकी बात और इस सम्बन्धके विविध साधनोंकी बातें भगवान चतुर्थाध्याय, पञ्चमाध्याय, षष्ठाध्याय, अष्टमाध्याय और पञ्चदशाध्यायमें कहते हैं। यह क्रियायोग क्या ज्ञानी, क्या भक्त, क्या कर्मी सबके लिये एकान्त प्रयोजनीय साधन है। प्रकृत पक्षमें यही कर्मयोग है और इस कर्मयोग के द्वारा ही समस्त कर्म ब्रह्मार्पण होता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

ये बहुविध यज्ञ वेदके द्वारा विहित हुए हैं ये समस्त कर्मज अर्थात् वाणी, मन, कायाके कर्म द्वारा बनते हैं। इस प्रकार जानकर उसके द्वारा साधनाभ्यास करनेसे मुक्तिको प्राप्त कर सकोंगे। यद्यपि भगवान् "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" कहकर ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं; किन्तु उस ज्ञानको प्राप्त करने का उपाय एक मात्र योगाभ्यास। इसीसे पुनः कहते हैं—"तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" साधक उस आत्मज्ञान योगको संसिद्धि द्वारा यथाकाल आत्मामें स्वयं प्राप्त करता है; किन्तु कर्मयोगके द्वारा वह प्राप्त नहीं होता।

दीर्घ काल पर्यन्त कर्मयोगका अभ्यास किये बिना आत्म

विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। योगाभ्यासके द्वारा योग्यता प्राप्त होती है, योग्यता प्राप्त होनेपर अनायास ही ज्ञान प्राप्त किया जासकता है। प्राणायामादि योगका अभ्यास करनेवाले को विवेक-ज्ञानका आवरणभूत कर्म क्षय होजाता है। योगदर्शनमें लिखा है कि—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" प्रकाशका आवरण प्राणायामके द्वारा ही क्षय प्राप्त होता है। भगवान् भी योगाभ्यासी की प्रशंसा करके अर्जुनको योगी बननेका उपदेश देते हैं।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ, ज्ञानीसे भी श्रेष्ठ और कर्मीसे भी श्रेष्ठ है यह मेरा अभिप्राय है, अतएव हे अर्जुन! तुम योगी बनो। यदि क्रियायोग ही एकमात्र कर्म होता है तो हम अन्य शतशः कर्म क्यों करें? और करनेसे भी क्या लाभ होता है? उन सब कर्मोंको किस प्रकार करनेसे भगवानकी प्राप्तिमें सहायक होसके अर्जुनको वह सब उपदेश भगवान् तृतीयाध्यायमें, अष्टमाध्यायमें और अष्टादशाध्यायमें विशदरूपसे समझाते हैं।

ब्राह्मणका स्वाभाविक कर्म क्या, क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म क्या, और वैश्य तथा शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म क्या है यह अष्टादशाध्यायके ४२, ४३, ४४, ४५ इन श्लोकोंमें कहा है। स्वाभाविक कर्म करनेका अधिकार आचाण्डाल सभीको है और उस स्वाभाविक कर्मको करनेसे किसीको पाप नहीं लगता। जिस प्रकार जीवहिंसा ब्राह्मणके लिये पाप होनेपर भी निषादके लिये पापरूपसे परिगणित नहीं हैं; क्योंकि स्वकर्मनिरत व्यक्ति स्वधर्म

साधनके द्वारा भी सिद्धि अर्थात् ज्ञानकी योग्यता प्राप्त करता है। यह सामान्य बात नहीं हैं। अतएव निज कुलकर्मके लिये किसीको भी घृणाका उदय नहीं होता; क्योंकि स्वकुलोचित कर्म करते हुए यदि ईश्वरमें निष्ठा रहे अर्थात् भगवानकी प्रसन्नताके निमित्तही स्वकर्त्तव्य किया जाय तो उसको नर्कादिका भय कहाँ? यही नहीं परन्तु परधर्म श्रेष्ठ होने पर भी उसको ग्रहण करनेका निषेध किया है। यहाँ पर भगवान् एक खूब उत्तम बात और चमत्कृत प्रसङ्ग सुनाकर समस्त जगतके जीवोंको अभयदान करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जो अन्तर्यामी भगवानसे प्राणिमात्रकी कर्मचेष्टा होती है। और जो इस विश्वमें व्याप्त होकर बिराजमान हैं। उन्हीं ईश्वरको अपने कर्मोंके द्वारा अर्चनकर मनुष्य सिद्धि सम्पादन कर सकता है अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त होता है। स्व स्व कर्मके द्वारा उनका पूजन करना चाहिये। कोई कर्म निष्फल अथवा हेय नहीं है यदि वह कर्म ईश्वरार्पित्त चित्तसे किया जाय। ईश्वरार्पित चित्तके द्वारा कर्म करनेसे किसी कर्मसे बन्धन नहीं होता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

श्रीपरमेश्वरमें समर्पण करके उसके फलमें आसक्तिका त्याग करके जो कर्म करता है वह पुण्यपापात्मक कर्ममें लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार पद्मपत्र जलमें रहते हुए भी जलके द्वारा लिप्त

नहीं होता। भगवान् सर्वात्मक हैं हम जो कुछ करें वह इसरीति से करें कि जो ब्रह्ममें समर्पित करने योग्य हों। अहंकार और अभिमानसे जहाँ पर्यन्त हृदय भरा रहता है वहाँ पर्यन्त कर्म भगवदर्पण नहीं हो सकता। इसीलिये निरहंकारी ज्ञानी भक्त समस्त वस्तु भगवानकी ही समझता है। सबही भगवद्रुप अथवा सबही भगवानका इस प्रकारकी बुद्धियुक्त होकर जो कुछ किया जाय वह अवश्य श्रीभगवानके चरणकमलमें पहुँचता है। अतएव आशक्ति और अहंकारशून्य होकर विकार रहित और ईश्वरार्पित चित्तसे कर्म करना चाहिये। इस प्रकार जो कर्म कर सकता है वही यथार्थ ज्ञानी, योगी और भक्त।

कर्म करनेका अधिकार सबको है और कर्म करनेका प्रेम मनुष्यमें अत्यन्त प्रबल; किन्तु सामान्यतः जीवमात्र ही स्वार्थ प्रणोदित होकर कर्म करता है। प्रारम्भमें स्वार्थशून्य होकर कर्म करना भी कठिन है। जो निःस्वार्थभावसे कर्म नहीं कर सकता वह स्वार्थबुद्धिसे ही कर्म करे, फिर भी वे आलसी और कर्मविमुख व्यक्तियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं।

साधारण रूपसे दो श्रेणिके लोग कर्म करना नहीं चाहते। एक आलसी व्यक्ति और दूसरे सांख्यमतावलम्बी। आलसी व्यक्ति तो कर्मत्यागका आडम्बर करते हैं वह उनका कपटाचार मात्र। कपटाचारीको धर्मप्राप्ति नहीं होती। भगवान् उनके लिये सुनाते हैं——

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

तुमने कर्मेन्द्रियोंका संयम किया है; किन्तु मनमेंसे विषय भोगके लिये यथेष्ट वासना विद्यमान् हैं सुतरां तुम्हारे कर्मत्याग काम, क्लेश, भयसे तुम्हें त्यागका फल जो शान्ति है उसको मिलनेकी कोई आशा नहीं।

द्वितीय श्रेणीके लोगोंकी आपत्ति है कि "त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः" कर्म बन्धनका कारण होनेसे समस्त कर्म त्याज्य हैं। कर्म करनेसे कर्मफल भोग अनिवार्य है। भगवान् उनकी आपत्तिका खण्डन इस प्रकार करते हैं।

यज्ञदानस्तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म कभी भी त्याज्य नहीं है परन्तु वह करना आवश्यक है। क्योंकि ये समस्त कर्म विवेकीगणके चित्तकी शुद्धि करनेवाले हैं। ये समस्त नित्य कर्म त्याग करना कर्तव्य नहीं। मोहके वश होकर यदि इसका त्याग किया जाय तो वह तामस त्याग मात्र। अब किस प्रकार कर्म करनेसे कर्म चित्त शुद्धिके कारण होते हैं यह कहा जाता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

हे पार्थ! पूर्वोक्त यज्ञदानादि कर्म फलाभिसन्धि रहित होकर तथा कर्तृत्वाभिनिवेशका त्याग करके करना होगा। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि—"केवलमीश्वराराधनतया कर्तव्यानीति" अर्थात् नित्यकर्म करना होगा केवल ईश्वराधीन होकर एवं फलाभिसन्धिको त्याग करके। ऐसा होनेसे ही कर्म पावन अर्थात् चित्तशुद्धिकर होंगे।

दूसरी एक घोर आपत्ति उनकी यह है कि कर्म करनेसे वह फल उत्पन्न करेगा ही सुतरां कर्म जिस प्रकारका होगा, अच्छा बुरा अथवा मिश्र तदनुरूप फल लाभ अनिवार्य हैं इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि—

अनिष्टमिष्टमिश्रंच त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्॥

ये समस्त फलभोग उसको करना होगा जो कर्मासक्त, जो अत्यागी हैं; किन्तु जो ब्रह्मार्पित चितसे कर्म करते हैं उनको कर्मबन्धन नहीं होता। वे त्यागी कारण यह है कि समस्त कर्मके भीतर वे भगवानकी इच्छाका दर्शन करते हैं। भगवानकी प्रसन्नताके लिये कर्म करनेसे कर्मबन्धन नहीं होता। जब कर्मको सर्वथा त्याग करनेका उपाय नहीं है तब वह परमात्माकी प्रसन्नता निमित्त करना उचित है। इससे कर्म बन्धन नहीं होगा अथच इस प्रकार निष्कामभावसे कर्म करनेके फलसे अनायासही ज्ञान प्राप्त होगा। इसीसे भगवान् कहते हैं कि—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥

अतएव फलाशक्ति शून्य होकर अवश्य विहितकर्म करते चलो। असक्त होकर कर्म करनेसे चित्त शुद्ध होता है और चित्तशुद्धिके द्वारा मोक्ष लाभ अथवा ज्ञान प्राप्त हो जायगा।

अतएव जो ज्ञानी नहीं हैं उनको कर्ममें आलस्य करनेसे नहीं चलेगा, उदासीनता दिखानेसे भी नहीं चलेगा। जिस प्रकृतिके लोग होंगे और जिस कुलमें उत्पन्न हुए होंगे सबको यथाविधि

अपने अपने कर्ममें उत्साह रखना होगा। जो रजोगुणी अर्थात् जिनकी कर्मचेष्टा स्वभावतः अधिक हैं वे स्वार्थ प्रणोदित होकर आगे चलकर कर्मस्रोतमें बह जाते हैं, इसलिये उनको नियमित कर्म करनेके लिये वह उपदेश दिया गया है। असंयतभावसे फल-कामना युक्त होकर कर्म करनेसे कर्मप्रवाह मनुष्यको कहाँ तक बहा ले जायगा इसका ठीकाना नहीं। केवल कर्म, केवल कर्म रातदिन श्वास लेने तकका अवकाश नहीं, इस प्रकार कर्म करने का मतलब कर्मका उद्देश्य और जीवनके साथ उसका सम्बन्ध नहीं जान करके जीवनके प्रकृत लक्ष्य और उद्देश्यको व्यर्थ करना ही है; इसलिये इस प्रकारकी प्रकृति युक्त पुरुषोंको भी कर्मका उदार क्षेत्र क्या है यह दिखा देना चाहिये! जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके पास अविद्याकल्पित जगत् मिथ्या है ऐसी वैराग्य प्रधान बातें कहनेसे चल सकता है, उस आत्मज्ञ पुरुषके समीप कर्माकर्म फलाफल पाप-पुण्यका कोई तरङ्ग नहीं उठता। वे कर्मके प्रवर्त्तक ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता और कर्मका आश्रय करण, कर्म, और कर्ता क्या है, यह सब वह जानता है और यह भी जानता है कि आत्मा किसी कर्मका आश्रय नहीं है; किन्तु जो ज्ञानी नहीं है, कर्मफलमें जिनका वास्तविकमें आसक्ति हैं, उन्हे समझा देना होगा कि दूसरेके मंगलसे ही तुम्हारा मङ्गल है। केवल तुम्हारे कल्याणसे ही कल्याण नहीं हैं अतएव देवताओंके उद्देशसे परोपकारार्थ कर्म करो तभी तुम्हारा यथार्थ मङ्गल होगा। "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः" देवताओंके उद्ददेशसे त्यागरूप यज्ञ ही कर्म शब्द वाच्य है। इस

प्रकार कर्म करनेसे कर्ममें परपीड़ा परित्याग और उसमें स्वकीय आसक्ति नष्ट हो जायगी। ऐसा होनेसे मनमें सात्विकभावकी वृद्धि होगी। सात्विक भावकी अभिवृद्धिके साथ ही जीवनको भगवद्परायण करनेके लिये आग्रह उत्पन्न होगा। और आग्रह वृद्धि होनेसे उसकी कर्मचेष्टा भक्तिरूपसे परिणत हो जायगी।

इस अवस्थामें ही समस्त कर्म ब्रह्ममें अर्पण होता है। समस्त कर्म ब्रह्मार्पण होनेसे जीवको विशुद्ध भक्ति और ज्ञान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्तकर वह कैवल्यपद प्राप्त करता है। यही ब्राह्मीस्थिति, इसको प्राप्त करनेसे जीव अन्य किसी विषयमें मुग्ध नहीं होता। समग्र गीतामें यही परम-पावन भाव अत्यन्त दृढ़ताके साथ और अतिमनोरञ्जक रीतिसे वर्णित हुआ है।

जिस कर्मके द्वारा इस प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करनेकी योग्यता होती है वह कर्म तीन प्रकारसे अनुष्ठित हो सकता है।

१—कर्ममें 'फलासक्ति'का त्याग करके।

२—निरहंकार होकर अर्थात् जो कुछ करना पड़े उनमें 'अहं-मम' भाव न रहे और—

३—'अध्यात्मचेतसा' अर्थात् ईश्वरार्पित चित्तसे उनके द्वारा प्रेरित होकर कर्म करना। सुतरां फलाफलके निमित्त मनमें कोई उद्वेग न रहेगा।

इस प्रकार कर्म करनेसे समस्त कर्म ब्रह्मार्पण हो जायँगे; किन्तु मनकी समता न रहनेसे इस प्रकार कर्म नहीं हो सकता। सिद्धि असिद्धिमें निर्विकार भावसे रहना यही मनकी 'समता' है

किन्तु प्राणकी चञ्चलता रहनेसे चित्तका विक्षेप नष्ट नहीं होगा फिर मनकी समता किस प्रकार होगी ? इसलिये प्राणायामादि योग कौशल्यका अवलम्बन करना होगा और उन समस्त क्रिया-योगका आनुषंगिक साधन एकान्तवास, इन्द्रियसंयम और आहारशुद्धिका अभ्यास करना होगा। इस प्रकारके कर्म द्वारा जीव जीवनकी परम सार्थकता प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशके सम्बन्धमें हम ज्यों ज्यों विचार करते हैं त्यों त्यों हमें इसकी विशेषतायें विदित होती है। गीता सभी शास्त्रका सारभूत होनेसे इसका उपदेश अन्यशास्त्रोंसे अविरोधी है। हिन्दुधर्ममें श्रुति, स्मृति, पुराण, दर्शनशास्त्रादि सभी शास्त्र मान्य हैं; किन्तु गीता इन सभी शास्त्रोंका सार एवं समन्वय कर स्पष्ट उपदेश देती हैं; इसलिये यह महाशास्त्र हमारे लिये परम माननीय हैं।

भगवद्गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गाया हुआ शास्त्र होनेके कारण इसका नाम भगवद्गीता सार्थक है। यह शास्त्र विश्वप्रसिद्ध है, विश्वपूज्य है एवं सर्वदा अभ्यसनीय हैं। उपनिषद्‌ समुहका सारसंग्रह इस शास्त्रमें होनेसे गीता "गीतोपनिषद्" नामसे सुप्रसिद्ध है। पञ्चमवेद स्वरूप महाभारतमें गीता है। मोक्षशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य सर्वत्र सुवर्णित है। हम यहाँपर संक्षेपमें गीतामाहात्म्य लिखकर गीताके उपदेशके सम्बन्धमें क्रमशः प्रधान प्रधान बातें लिखेंगे।

श्रीभगवद्गीता मोक्षशास्त्र है। इसके द्वारा अक्षरकी प्राप्ति होती है और परमेश्वरके परम भावकी भी प्राप्ति होती हैं। अत-

एव यह गीता पराविद्या स्वरूपिणी हैं। ज्ञानसे मुक्ति होती हैं, ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती यह शास्त्रका सिद्धान्त है। गीता उसी परमज्ञानकी आकर है। हमारे मोक्षशास्त्रमें चार ग्रन्थ प्रधान है। उपनिषद्, गीता, भागवत और वेदान्तदर्शन। सभी सम्प्रदाय इन चार प्रस्थानका अवलम्बन करते हैं। आचार्योंने इन्हीं ग्रन्थोंपर भाष्य टीकायें लिखे हैं तथा इन शास्त्रोंका प्रमाण रूपसे सन्मान किया है। इन ग्रन्थोंमें श्रीभगवद्गीताकी श्रेष्ठता अधिक रूपसे इसलिये हैं कि इसमें समस्त उपनिषद्का सार समझाया है भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं श्रीमुखसे। यह शास्त्र श्रेष्ठ होनेमें यह भी एक कारण है कि इसमें शृंखलाबद्ध रीतिसे सर्वतत्वज्ञानार्थ, सर्वप्रकारका साधनतत्व संक्षेपमें सूत्ररूपसे उपदिष्ट हैं। वेदान्तदर्शन माननीय है; किन्तु उसका आरम्भ 'ब्रह्मजिज्ञासा' से होता है और वेदान्तदर्शनमें ब्रह्मतत्वका ही प्रधानतया वर्णन किया है। गीतामें मुमुक्षुके लिये ज्ञातव्य समस्त तत्त्व उपदिष्ट हैं। माहात्म्यमें लिखा है कि—

वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता।

गीतामाहात्म्यके कुछ और भी प्रमाण यहाँपर उद्धृत किये जाते हैं जिसपर हमारे पाठक मनन कर गीताकी महत्ता समझेंगे।

तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते॥

अतः यह गीता सर्वधर्ममयी है, सर्वज्ञान प्रदायिनी है, सर्वशास्त्रकी सारभूता तथा विशुद्धा होनेके कारण समस्त शास्त्रसे श्रेष्ठ हैं।

गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्मतम् ।
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदाङ्गगर्हितम् ॥

जो ज्ञान गीतामें नहीं कहा है वह ज्ञान आसुरसम्मत समझना, वह निष्फल, धर्मरहित वेदवेदांगनिन्दित ज्ञान समझना। सुतरां शास्त्रीय रीतिसे जो कल्याणकी इच्छावाले मुमुक्षु हैं, परमात्मामें योगयुक्त होना चाहते हैं और परमगति प्राप्त करना चाहते हैं, उन सबके लिये गीतोक्त ज्ञान सम्पादन कर लेना आवश्यक है। अधिक क्या ? कहें इस शास्त्रका जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगया है उसको अन्य शास्त्रकी भी आवश्यकता नहीं रहती। गीतामाहात्म्यमें स्पष्ट लिखा है कि—

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥

जो मनुष्य भयानक संसारसमुद्रको तरना चाहे वह गीतारूपी नावमें सम्यक् बैठकर सुखपूर्वक उसको पार कर जाय। गीताजीके महत्वके सम्बन्धमें स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं वह मनन योग्य है।

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीता ज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥

गीता मे परमाविद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्द्धमात्राक्षरा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका॥

गीता माहात्म्यमें इन श्लोकोंका अर्थ दिया गया है और यों भी शब्दार्थ स्पष्ट है। पाठक इस भगवदाज्ञासे गीताकी महत्ता स्पष्ट समझ गये हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारमें स्वयं भगवान् जो गीताके उपदेशकी महत्ता वर्णन करते हैं वह मननयोग्य हैं। वहाँपर गीता के वक्ता तथा श्रोताओंकी प्रशंसा कर उनको उत्तमगति प्राप्त होती है इसका भगवान् किस प्रकार वर्णन करते हैं?

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥

जो विद्वान मुझमें परमभक्ति करके इस परम गुह्य गुप्त रहस्यको मेरे भक्तोंमें स्थापित करेगा वह मुझको प्राप्त होगा। और मनुष्योंमें उस पुरुषसे अधिक दूसरा पुरुष मुझे अति प्यारा न होगा। गीताके उपदेशकसे अधिक मुझे कोई भी प्रिय नहीं हैं। हे अर्जुन! तुम्हारे और मेरे इस धर्मसंवादको जो पढ़ेंगे उसने

ज्ञान यज्ञके द्वारा मेरा पूजन किया ऐसा मैं मानता हूँ। और जो पुरुष श्रद्धायुक्त बनकर तथा निन्दारहित हो इसका श्रवण करेगा वह पुण्यकर्म करनेवालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त होगा। यहां पर 'सः अपि' शब्दसे सूचना की गयी है कि इस शास्त्रके अर्थ रहित केवल अक्षरमात्रके श्रोता भी उत्तम लोक पाते हैं तो अर्थज्ञान सहित इस शास्त्रके पढ़नेवाले पुरुष उत्तम लोकको प्राप्त करें इसमें सन्देह ही क्या है?

श्रीभगवद्गीताका महत्त्व स्वयं श्रीभगवानने कहा है, और प्रायः भारतके सभी आचार्य महात्मा एवं विद्वान् इस ग्रन्थकी महत्ता वर्णन कर चुके हैं और हिन्दूमात्र इस शास्त्रको भक्तिशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र रूपसे मान रहे हैं। जीवनकालमें इसका पाठ करते हैं तथा सुनते हैं और मृत्युकाल समीप जानकर गीताका पाठ सुननेसे हमारा कल्याण होगा, यह हिन्दूमात्र मानते हैं। क्या गीताका यह कम महत्व है? मृत्युकालमें गीता पुस्तकका दान करना, गीताका श्रवण करना, गीताका पूजन करना इत्यादि हमारे यहाँ प्रायः सभी जातियोंमें तथा सभी प्रान्तोंमें प्रचलित है। जो गीतार्थ नहीं जानते, जो स्वयं गीताका पाठ नहीं करते वे भी यह तो चाहते हैं कि हम मरणकालमें एकबार गीता पाठ सुन लें। ऐसे सर्वजनप्रिय एवं सन्माननीय पवित्र शास्त्रका माहात्म्य हम कहाँतक वर्णन करें?

(श्रीभगवद्गीताकी इस भूमिकाका विस्तार जितना किया जाय उतना हो सकता है। हमने इस समय प्रथम भाग प्रकाशित करदिया, गीताके अग्रिमांशमें द्वितीय भाग प्रकाशित किया जायगा।)

श्रीकृष्णाय नमः।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥

प्रथमोऽध्यायः—सैन्यदर्शन-विषादयोगः।

धृतराष्ट्र उवाचः—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र उवाच—हे सञ्जय! (व्यासप्रसादाद्विनष्टरागद्वेषस्त्वं तथ्यं वदेत्यर्थः) युयुत्सवः (पूर्वं योद्धुमिच्छन्तः) [अपि] धर्मक्षेत्रे (धर्मस्य तद्वुद्धेश्च क्षेत्रमभिवृद्धिकारणं तत्र, देवयजनक्षेत्रत्वाद् धर्मभूमौ) कुरुक्षेत्रे (कुरोर्धर्मस्थाने) समवेताः (संगताः मिलिता इति यावत्) मामकाः (मदीयाः मत्पुत्राः दुर्योधनादयः) पांडवाश्च (पाण्डुपुत्राः युधिष्ठिरादयश्च) किम् अकुर्वत (कृतवन्तस्तद् ब्रुहि)।

ननु युयुत्सवः इति त्वं ब्रवीष्येव अतो युद्धमेव कर्तुमुद्यतास्ते, तदपि किमकुर्वतेति केनाभिप्रायेण प्रच्छसीत्यत आह धर्मक्षेत्र इति। "यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्" इति जाबाल श्रुतेः। "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" इति शतपथ श्रुतेश्च। तत्क्षेत्रस्य धर्मप्रवर्तकत्वं प्रसिद्धम्। अतस्तत्संसर्गमहिम्ना यद्यधार्मिकाणामपि दुर्योधनादीनां क्रोधनिवृत्या धर्मे मतिः स्यात्। पाण्डवास्तु स्वभावत एव धार्मिकास्ततो बन्धुहिंसनमनुचितमित्युभयेषामपि विवेकउद्भुते संधिरपि सम्भाव्यते। ततश्च ममानन्द एवेति सञ्जयं प्रति ज्ञापयितुं इष्टोभावो बाह्यः। आभ्यन्तरस्तु सन्धौ सति पूर्ववत् सकण्टकमेव राज्यं मदात्मजानामिति मे दुर्वार एव विषादः। तस्मादस्माकीनो भीष्मस्त्वर्जुनेन दुर्जय एवत्यतो युद्धमेव श्रेयसस्तदेव भूयादिति तन्मनोरथोपयोगी दुर्लक्ष्यः।

अन्वयार्थ—संजय (हे संजय !) धर्मक्षेत्रे (धर्मस्थान) कुरुक्षेत्रे (कुरुक्षेत्रमें) समवेताः (एकत्र हुए)युयुत्सवः (युद्धकी इच्छा करनेवाले) मामकाः (मेरे पुत्र दुर्योधनादि) च (और) पाण्डवाः (पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरादि) एव (निश्चय करके) किम् (क्या) अकुर्वत (करते भये) ॥१॥

सरलार्थ—धृतराष्ट्रने कहा कि हेसंजय ! कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्रित मेरे पुत्रगण तथा पाण्डवोंने क्या किया ?

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

गोविन्दं त्रिभुवनपालकं भवाब्धिम्
चित्कन्दं सुखनिलयं विकारशून्यम् ।
वन्दे तं विजयमनोगतं समस्तं
सन्देहं मधुरगिरा रणेऽहरद्यः ॥१॥

यस्य कृपाकटाक्षेण, संसारोऽयं प्रणश्यति ।
सर्वगं सच्चिदात्मानं तं वन्दे पार्थसारथिम् ॥२॥

शुद्धां सनातनीमम्बां शोकमोहविनाशिनिम् ।
कृष्णस्वरूपिणीं गीतामिष्टदेवीं भजाम्यहम् ॥३॥

नमाम्याचार्यचरणान् स्पृष्ट्वा श्रीमत्पदाम्बुजम् ।
माधवः शिरसा स्यान्मे नित्यमेतादृशि कृपा ॥४॥

संजय धृतराष्ट्रका सारथि तथा सदैव उसके सानिध्यमें रहनेवाला था। धृतराष्ट्र वृद्ध एवं अन्ध था। वह युद्धक्षेत्रमें जाकर युद्ध देखनेमें असमर्थ । उसकी युद्धदर्शनाभिलाषाको

पूर्ण करनेके लिये वेदव्यासजीने इस धार्मिक संजयको दिव्य नेत्र दिया था । संजय हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्रके समीपमें रहता हुआ कुरुक्षेत्रके युद्धव्यापारको दिव्यनेत्रसे देख रहा था । और धृतराष्ट्रके समीपमें उसका यथार्थ वर्णन कर रहा था । इसी युद्ध विवरणको जाननेके लिये वह संजयको प्रश्न करता है । समीपमें रहनेवालेको यदि कुछ पूछना हो तो उसका नामनिर्द्देश न करनेसे भी चल सकता है; किंतु व्याकुलचित्त अन्ध कुरुराजने पक्षपात शून्य होकर वृतान्त जाननेके उद्देशसे उसकी उच्च-मर्यादाका स्मरण करके हेसंजय ! (जिसने रागद्वेषादिको जीत लिया है वही संजय) इस प्रकार प्रशंसासूचक सम्बोधन किया है । संजयके पिताका नाम गवलगण इस लिये इसको गावल्गान नामसे भी कहते है । यह अत्यन्त शान्त स्वभाव, मित्रभाषी और सदैव संतुष्ट । विचक्षणतामें यह महामनस्वी विदुरजीके समान । महर्षि वेदव्यासजीके अनुग्रहसे इनको दिव्य योगकी शक्ति प्राप्त हुई थी जिसके प्रभावसे वह अनायास ही कुरुक्षेत्रका युद्ध देख कर धतराष्ट्रको वहांका यथार्थ वृतान्त कहनेमें समर्थ हुआ था । परम भाग्यवान् अर्जुनके सिवाय जिस विश्वरूपका दर्शन करनेको अन्य कोई भाग्यशाली नहीं हुआ था । उस स्वरूपका इस संजयको भी दर्शन हुआ था । अर्जुनका यह प्रिय सखा था । संजयका पवित्र चरित्र तथा उसको जो महति योगशक्ति प्राप्त हुई थी उसकी सत्यतामें संदेह करनेकी कोई आवश्यकता नहीं । संजयकी दिव्यदृष्टिके सम्बन्धमें वर्तमान समयके एक महान् विद्वान् कहते हैं ;—

गीता महाभारतके युद्धके प्रारम्भमें कही गयी थी। इसलिये देखिये गीताके प्रथम श्लोकमें ही राजा धृतराष्ट्रने दिव्यदृष्टि-प्राप्त संजयसे युद्धकी बातें पूछी थीं। दोनों (कौरव पांडव) सेनायें रणक्षेत्रमें युद्धके लिये खड़ी थीं, उनकी पहली चेष्टा क्या है, यह जाननेके लिये वृद्ध राजा धृतराष्ट्र उत्सुक थे। संजयको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, यह आधुनिक भारतके अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंकी दृष्टिमें कविकी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। यदि कहा गया होता कि अमुक व्यक्ति दूरदृष्टि (Clairvoyance) और दूरश्रवण (Clairaudience) को पाकर के दूरसे युद्ध क्षेत्रका लोमहर्षण दृश्य और महारथियोंका सिंहनाद इन्द्रिय गोचर करनेमें समर्थ हुआ था, तो कदाचित् यह बात संजयकी दिव्यदृष्टि प्राप्तिकी अपेक्षा अधिक बिश्वास योग्य अंग्रेजी शिक्षितोंके लिये होती, पर व्यासदेवने जो दिव्यदृष्टिकी शक्ति संजयको प्रदान की थी, गल्प कहकर उसकी हँसी उड़ायी जाती है। यदि कहा गया होता कि एक विख्यात यूरोपीय विज्ञानवेत्ताने अमुक व्यक्तिको स्वप्नावस्थामें प्राप्त (Hypnotised.) करके उसे उस दूर घटनाकी कितनी ही बातोंका बोध कराया था, तो इसका भी जो लोग पाश्चात्य (Hypnotism) की बातें जानते हैं, वे विश्वास कर सकते हैं। सोचनेकी बात है कि (Hypnotism) योगशक्तिका निकृष्ट और वर्जनीय केवल अंगमात्र है। मनुष्यमें इस तरहकी बहुतसी शक्तियां स्थित रहती हैं कि जिन्हें पूर्व समयकी सभ्यजाति जानती और उनका विकाश करती; किंतु कलिसम्भूत अज्ञानके

स्रोतमें वह विद्या डूब गयी, केवल आंशिकरूपमें कुछ लोगोंमें गुप्त और गोपनीयज्ञान द्वारा रक्षित होती आ रही है। सूक्ष्म-दृष्टिद्वारा स्थुल इन्द्रियोंसे न्यारे एक सूक्ष्म इन्द्रिय है, जिससे हम स्थुल इन्द्रियोंके आयत्तातीत पदार्थ और ज्ञानको अधीनस्थ कर सकते हैं, सूक्ष्म वस्तु देखना, सूक्ष्म शब्द सुनना, सूक्ष्म गंध सूंघना, सूक्ष्म पदार्थ स्पर्श और सूक्ष्म आहारका आस्वाद कर सकते हैं। सूक्ष्मदृष्टिके अन्तिम परिणामको ही दिव्य दृष्टि कहते हैं; उसीके प्रभावसे दूरस्थ गुप्त या अन्य लोकगत विषय आदि सभी चीजोंका हमें ज्ञान होता है। अतः परम योग शक्तिके स्तम्भ महामुनि व्यासदेवने जो संजयको दिव्य द्रष्टि दी थी, उसपर भी विश्वास करनेके लिये हमें कोई भी कारण दिखायी नहीं पड़ता। यदि पाश्चात्य (Hypnotism) की अद्भुत शक्तिपर हम अविश्वास नहीं करते तो फिर अद्वितीय ज्ञानी व्यासदेवकी शक्तिके लिये कैसे अविश्वास कर सकते हैं? शक्तिमानकी शक्ति दूसरोंके शरीरमें लागू हो सकती है, इसके अनेकों प्रमाण इतिहासके प्रत्येक पृष्ठ और मनुष्य जीवनके प्रत्येक कार्यमें पाये जाते हैं। नैपोलियन ईतो प्रभृति कर्म-वीरों ने उपयुक्त पात्रमें शक्तिप्रदान करके उसके द्वारा अपने अपने कार्योंके सहायक बनाये हैं। साधारणसे साधारण योगी भी किसी सिद्धिको प्राप्त कर समय समयपर कुछ देरके लिये या किसी विशेष कार्यमें प्रयोग करनेके लिये दूसरोंको अपनी निजी सिद्धिकी शक्ति दे सकते हैं। व्यासदेव जो जगतके सर्व श्रेष्ठ पंडित और असाधारण योगसिद्ध पुरुष थे उन्होंने

यदि संजयको दिव्यदृष्टि दे ही दी तो इसमें अविश्वासकी कौनसी बात ! वास्तवमें दिव्यचक्षुका अस्तित्व गल्प न होकर वैज्ञानिक सत्य होनेकी बात है। हम जानते हैं कि आंख नहीं देखती, कान नहीं सुनता नाक नहीं सूंघती, त्वचा स्पर्श नहीं करती, जिह्वा आस्वाद नहीं करती यह सब काम मन ही करता है अर्थात् मन ही देखता, सुनता सूंघता, स्पर्श करता और आस्वाद करता है। दर्शन शास्त्र और मनस्तत्व विद्यामें यह सत्य बहुत दिनोंसे गृहीत होता आ रहा है, कि (Hypnotism) इस वैज्ञानिक प्रयोगद्वारा परीक्षित होकर प्रमाणित हुआ है कि नेत्र बंद रहनेपर भी दर्शनेन्द्रियका काम किस नाभीद्वरा सम्पादित हो सकता है। अतः इससे यही निश्चय होता है कि स्थूल इन्द्रियां ज्ञान प्राप्त करनेके लिये केवल सुविधाजनक उपाय है और स्थूल शरीरके पुराने अभ्यासमें बँधे हुए हम उनके दास हुए हैं; किंतु प्रकृतपक्षमें किसी शारीरिक प्रणालीद्वारा उस ज्ञानका मनको बोध होता है—जैसे अन्धा किसी पदार्थके आकार और स्वभावकी निर्मूल धारणा स्पर्शद्वारा करता है ; किंतु अन्धेकी दृष्टि और स्वप्नावस्थामें यही भेद प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था प्राप्त व्यक्ति पदार्थकी प्रतिमूर्ति मनमें देखता है। इसीको दर्शन कहते हैं। प्रकृतपक्षमें हम सामनेकी किताबको देखते नहीं, उस किताबकी जो प्रतिमूर्ति हमारी आंखोंके सामने चित्रित होती है उसीको देखकर मन कहता है कि किताब देखा; किंतु स्वप्नावस्थाके दूरस्थ पदार्थ अथवा घटना देखने और सुननेसे हो यह भी साबित होता

है कि पदार्थकी ज्ञानप्राप्तिके लिये किसी शारीरिक प्रणालीकी आवश्यकता नहीं,—सूक्ष्मदृष्टि द्वारा देख सकते हैं। लन्दनमें रहकर उस समय एडिनबर्कमें जो घटना हुई थी, उसे मैंने मनमें देखा, इस तरहके दृष्टान्तोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जारही है। इसीको सूक्ष्मदृष्टि कहते हैं। सूक्ष्मद्रष्टि और दिव्यद्रष्टिमें यह भेद है कि सूक्ष्मदर्शी अपने मनमें अदृष्ट पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ दिखायी नहीं पड़ता उसकी प्रतिमूर्ति देखता है और दिव्यद्रष्टि द्वारा हम मनमें वह दृश्य न देखकर शारीरिकनेत्रोंके सामने देखते, चिन्ता प्रबाहमें वह शब्द न सुनकर शारीरिक कानसे सुनते हैं। इसका एक सामान्य द्रष्टान्त (Crystal) या कालीमें समसामयिक घटनाका देखना है; किंतु दिव्यचक्षु प्राप्त योगियोंके लिये इस तरहके उपकरणकी कोई आवश्यकता नहीं, वे इस शक्ति-विकाशमें बिना उपकरणके देशकालके बन्धनको तोड़कर दूसरे देश और दूसरे कालकी घटना जान सकते है। देशके बन्धनसे छुटकारा पानेके प्रमाण हमें यथेष्ट मिलते हैं; किंतु जिससे मनुष्य त्रिकालदर्शी होनेमें समर्थ होता है और वह कालबन्धनसे छुटकारा पा सकता है। उसका इतना बहुसंख्यक और सन्तोषजनक प्रमाण अभी भी जगत्के सामने उपस्थित नहीं किया जा सकता; किंतु यदि देशबन्धन छूटना सम्भव है, तो यह बात नहीं कही जा सकती कि कालबन्धनका छूटना असम्भव है। जो हो इस व्यासदेवकी दी हुई दिव्यदृष्टि द्वारा संजयने हस्तिनापुरमें रहते हुए भी कुरुक्षेत्रमें आकर एकत्र हुए धार्त्तराष्ट्रों और पांडवोंको आंखसे

देखा था और दुर्योधनकी उक्ति, भीष्म पितामहका भयंकर सिंहनाद पाञ्चजन्यका कुरुध्वंससूचक महाशब्द तथा गीताके अर्थका द्योतक कृष्णार्जुन सम्बाद कानसे सुना था।

हमारी रायमें न तो महाभारत ही रूपक है और न कृष्णार्जुनका सम्बाद ही कविकी कल्पना है, इसी प्रकार गीता भी आधुनिक तार्किकों या दार्शनिकोंकी नहीं है। अतएव गीताकी कोई भी बात असम्भव और युक्तिविरुद्ध नहीं है, ऐसा हमें मानना होगा। इसलिये हमने भी संजयकी दिव्यदृष्टि प्राप्तिकी बातपर इतनी बृहत् आलोचना की।

संजयके पवित्र चरित्र पर तथा उसको जो दिव्यदृष्टि भगवान् वेदव्यासजी द्वारा प्राप्त हुई थी उसका रहस्य संक्षेपमें निरुपण किया गया अब कुरुक्षेत्रके धर्मक्षेत्र होने में जो प्रमाणादि प्राप्त है वह विचारते हैं।

कुरुक्षेत्रमें युद्ध हो रहा है। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है यह बात सुप्रसिद्ध होते हुए भी कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र विशेषण देनेमें धृतराष्ट्रका विशेष अभिप्राय है अतएव प्रथम इस कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र क्यों कहा गया है यह प्रमाण एवं इतिहास द्वारा यहांपर संक्षेप में कुछ निवेदन कर देना उचित समझते हैं। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्रोंमें एक प्रधान क्षेत्र है। धर्म स्थानका प्रभाव है कि वहां जाने वाले कदापि धर्मबुद्धि रहित हो अथवा अल्प धर्मबुद्धि हो उसको भी धर्मभावका उदय होता है। अस्पष्ट धर्मबुद्धि धर्मक्षेत्रमें जानेसे स्पष्ट होती है, सामान्य धर्मप्रवृत्ति हो तो वह प्रबल हो जाती है। धर्मकार्यका आचरण सहज होता है। धर्म स्थान

की पवित्र प्रकृतिके अथवा पवित्र परमाणुओंके प्रभावसे तमोगुणी पुरुषको भी सत्वगुणका विकाश होता है।

कौरव तथा पाण्डवोंने प्रथमसे ही युद्ध करनेका निश्चय किया था; किंतु धर्मक्षेत्रकी महिमाका स्मरण धृतराष्ट्रको हो जानेसे उसको फिर भी यह संशय उत्पन्न हुआ कि स्थान प्रभावसे उभयदलके योद्धाओंके तथा अग्रेसरोंके अन्तःकरणमें सत्वगुण उदय होना सम्भव है। यदि ऐसा हो तो प्राणिहानिकर युद्धव्यापार न होकर परस्परमें मित्रता और संधि भी हो सकती है। अतएव कुरुक्षेत्रका यहांपर धर्मक्षेत्र विशेषण धृतराष्ट्रने दिया है। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है ऐसा धृतराष्ट्रको स्मरण होजाने पर उसने फिर एकवार आशा की कि धर्मात्मा पाण्डव कुरुक्षेत्र के प्रभावसे पूर्वकी अपेक्षा अधिकतर प्रभाव युक्त होकर प्राणिहिंसासे निवृत्त होंगे। फिर उसने यह भी विचार किया कि दुरात्मा दुर्योधनने धर्मक्षेत्रकी महिमामें मग्न होकर अपनी दुर्बुद्धिका परित्याग कर पाण्डवों को धर्म और न्यायके अनुसार क्या प्राप्य अधिकार दान किया? धृतराष्ट्रके अन्तःकरणमें यह भी कल्पना हो सकती है कि मेरे पुत्र धर्मक्षेत्रके प्रभावसे अपने अनुचित कर्मोंको जानकरके पश्चात्ताप कर रहे हैं अथवा उन्होंने राज्यतृष्णाको छोड़कर पराजय स्वीकार कर सन्धि तो स्वीकार नहीं की? फिर यह भी उसकी कल्पना इस प्रश्नके गर्भमें रही है कि मेरे पुत्रोंके अन्तःकरण सर्वथा धर्मसंस्कारशून्य होनेसे उनके ऊपर तो धर्मक्षेत्रका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता; किंतु पाण्डव स्वभावतः धर्मसंस्कारसे युक्त है और धर्मात्मा

भगवान् कृष्ण भी उनके साथ है तो स्थान और संगके प्रभाव-से पाण्डवोंके अन्तःकरणमें रहे हुए धर्मसंस्कार जागृत हों और वे सत्वगुण युक्त होकर इस हिंसाप्रधान महायुद्धसे विरत हो सकते हैं। धर्मके निमित्त अबतक उन्होंने सम्पूर्ण स्वार्थ त्याग किया है और धर्मकी खातिर ही उन्होंने अनेक कष्ट तथा हानि स्वीकार की है। उनके अन्तःकरणपर धर्मक्षेत्रका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अर्जुन जो इस युद्धमें प्रधान नेता है उसके अन्तःकरणमें अहिंसादिधर्मका युद्धके शुरुमें आविर्भाव हुआ है जो इस अध्यायमें वर्णन होगा ही इससे धृतराष्ट्रका प्रश्न सर्वथा उचित ही है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें मेरे तथा पाण्डुके पुत्रगण क्या करते हैं? पाण्डवोंने वनगमन-कालमें जो प्रतिज्ञायें की थी उसको धृतराष्ट्र स्पष्ट जानता था और उसी समयसे उसका निश्चय था कि मेरे पुत्रोंके इन अत्याचारोंका तथा अन्यायका बदला पाण्डवगण अवश्य लेगें। कौरव और पाण्डवोंका महाभारत युद्ध होगा ही। विशेषरूपसे वनवासकालमें तथा उसकी समाप्तिके पश्चात् भी जब नीति-विशारद तथा सबके शुभचिन्तक महात्मा विदुरजी एवं भगवान् श्रीकृष्णने सन्धिका प्रस्ताव किया था तब दुर्योधनने उसे स्वीकार नहीं किया और उन शान्तिप्रिय वाक्य कहनेवालों का अनादर किया उस समय धृतराष्ट्र स्पष्ट समझगया था कि युद्ध अवश्य होगा। इसके ऊपरान्त जब कौरव तथा पाण्डव उभय-पक्षके नेताओंकी ओरसे रणभेरी बजने लगी, रथी, महारथी प्रभृति अष्टादश अक्षौहिणी सेनासे जब रणभूमि परिपूर्ण हो गयी,

जब उभय दल महासमरमें सज्जित एवं एकत्रित हो गये तब युद्धके सिवाय अन्य बात होनेकी संभावना सर्वथा नहीं। फिर भी परमप्रवीण धृतराष्ट्र 'युद्ध किस प्रकार हो रहा है?' यह प्रश्न न पूछकर "किमकुर्वत?" "क्या किया?" इस प्रकारका प्रश्न क्यों करता है? इस पर आगे चल कर विचार करेंगे. प्रथम इस स्थान को धर्मक्षेत्र क्यों कहा है यह बिचार करें। अष्टादश पुराणान्तर्गत श्रीवामनपुराणमें इस स्थानके सम्बन्धमें लिखा है कि राजा कुरुने स्यमंतक पञ्चकको पुण्य-क्षेत्र करनेकी इच्छासे सुवर्णका हल ग्रहण किया, इस पर इन्द्रने आकर कहा कि महाराज! आप क्या चाहते हैं? तब राजाने कहा कि तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग, ब्रह्मचर्य इनको यहांपर बोना चाहता हूं। इन्द्र बोले बीज कहां से लिया है? राजाने उत्तर दिया कि अष्टांगयोगसे बीज ग्रहण किया है। इन्द्र यह सुनकर चलेगये तब राजाने कई योजन पथ्वी बाह डाली तब विष्णु भगवानने वहांपर पधारकर पूछा कि राजन्! तुम यहांपर क्या करते हो? राजाने अष्टांगयोगका बर्णन किया। विष्णु बोले कि बीज कहां है? राजाने कहा कि मेरे शरीरमें स्थित है. विष्णु बोले तुम हल चलाओ बीज मुझे दो मैं बोऊँगा। तब राजाने अपनी दाहिनी भुजा पसार दी, भगवानने चक्रसे सहस्रखंडकर उसे बखेर दिया फिर राजाने बांई भूजा और दोनों जंघा अर्पण की. भगवानने उसे भी काटकर बखेर दी तब राजाने शिर अर्पण किया इससे भगवानने प्रसन्न हो वर मांगनेको कहा. राजाने प्रार्थना की

कि यह क्षेत्र पवित्र हो जाय तथा यहांका दान अक्षय हो भगवानने "तथास्तु" कहकर राजाको दिव्यदेहका दान किया।

कौरव पाण्डवोंके पूर्वज अजमीढके पुत्र कुरुनामक राजाने यज्ञार्थ इस भूमिका कर्षण किया उनके इस प्रकार हल जोतने के कारण ही इस स्थानका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा है किसी समय इन्द्रने भी राजाको वर दिया था कि इस भूमिमें तपस्या द्वारा अथवा युद्ध करते करते जो प्राण त्याग करेंगे उनको विशेष सद्गति प्राप्त होगी इस कारणसे भी यह कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र कहा-जाता है। हस्तिनापुरकी चारों ओरकी भूमि कुरुक्षेत्र नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध है।

स्यमन्तकपञ्चक भी इस क्षेत्रका नाम है। भारतवर्षके प्रधान तीर्थोंमें इसकी गणना है। कुरुक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके समय स्नान दानादिकी महिमा हिन्दुमात्र जानते हैं। जाबाल श्रुतिमें इस स्थानकी महिमा इस प्रकार वर्णित है। "यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्। सर्वषां भूतानां ब्रह्मसदनम्" कुरुक्षेत्र देवताओंका देवयजन स्वरूप और प्राणिवर्गको ब्रह्म अथवा मोक्षप्राप्तिका स्थान। शतपथ श्रुतिमें कहा है कि "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" कुरुक्षेत्र अवश्य देवताओंका यजन स्थान है। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र-धर्मप्रसव भूमि है। इसी स्थानमें कुरुराजाने द्रव्ययज्ञसे प्रारंभ-कर ज्ञानयज्ञ पर्यन्तके प्रायः सभी यज्ञ किये थे। कुरुराजाने तपके द्वारा ही यहांपर सिद्धि प्राप्त की थी। देवताओंने इस स्थानमें उपस्थित होकर देवयज्ञ सम्पन्न किया है। कुरुक्षेत्र देश प्राचीन ब्रह्मावर्तके अन्तर्गत हैं। इसकी एक ओर सरस्वती

और दूसरी ओर दृशद्वती नदी प्रवाहित हो रही थी। आर्योंका प्रथम वसतिस्थान यही कहा जाता है। वर्तमान समयमें दिल्ली-कालका रेल्वेके कर्नाल और थानेश्वर स्टेशनका मध्यवर्ती स्थान ही कुरुक्षेत्र इसकी दीर्घता ३५ और प्रस्थ ५। ६ क्रोस है। इस स्थलमें इस समय भी २०० से अधिक तीर्थ स्थान है। उनमें थानेश्वर स्टेशनके समीपमें द्वैपायनहृदही प्रसिद्ध है। द्वैपायनहृद दैर्घ्यप्रस्थमें प्रायः अर्ध कोश है। धर्मक्षेत्र श्रीकुरुक्षेत्र प्रजापतिकी उत्तरवेदी रूपसे भी विख्यात है। शान्तनुनन्दन धृतराष्ट्र तथा पाण्डुके बड़े चचा (ताऊ) चित्रांगदने इसी स्थानमें गन्धर्वयुद्धमें प्राणत्याग कर स्वर्गगमन किया था। कुरुक्षेत्रका सम्पूर्ण इतिहास देखा जाय तो देवासुर संग्रामसे प्रारंभ कर वर्तमान काल तक जितने बड़े बड़े युद्ध हुए हैं वे प्रायः इसी स्थानमें। इस स्थानमें जय प्राप्त करनेवाले ही प्रायः भारतके सम्राट्पदको प्राप्त कर सकते हैं विस्तार भयसे हम इस स्थानके युद्धोंका वर्णन करना नहीं चाहते भारतीय इतिहासवेत्ता इस विषयको अच्छी तरहसे जानते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीद्वारकाधामसे एक समय अपने माता पिता तथा आत्मीयजनोंको लेकर सूर्यग्रहणके अवसर पर यहां पधारे थे ब्रजवासी भक्त भी वहां पर पधारे थे। यहां पर बड़े बड़े राजर्षि और ब्रह्मर्षियोंने निवास करके ऋद्धि तथा सिद्धि प्राप्त की है। जहां अनेक युद्ध हुए हैं और अभी भी वह स्थान युद्धकी प्रतिध्वनि कर रहा है; किंतु साथ ही शान्तिका साम्राज्य भी वहां पर विद्यमान है। बड़े बड़े आचार्योंने उक्त

स्थान पर अपनी शान्तिके परमाणु स्थापित कर रखे हैं, जहां पर जानेसे शान्ति मिल सकती है यह स्थान ब्रह्मके समान विरुद्ध धर्माश्रयी है। युद्धार्थीके लिये युद्धके परमाणु वहां बृहत् रूपमें प्राप्त होते हैं और शान्तिकी कामनावालोंको परम शान्तिके परमाणु भी प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र स्थलमें जानेसे मनुष्यका जीवन प्रायः पवित्र हो जाता है।

धृतराष्ट्रकी मुख्य जिज्ञासा है 'मामकाः किम् अकुर्वत' और 'च' पदद्वारा 'पाण्डवाः किम् अकुर्वत' यह गौणभावसे उसकी जिज्ञाशाका विषय है; इसी लिये प्रथम 'मामकाः' कह कर 'पाण्डवाः' कहता है। साथ ही यहांपर बीचमें 'च' शब्द रखनेसे इन उभयोंमें इसकी भेददृष्टि जो गुप्त थी वह प्रकट हो जाती है। इस प्रकार धृतराष्ट्रकी निज पुत्रोंके प्रति ममता तथा कौरव पाण्डवोंके बीचकी भेदनीति स्पष्ट हुई। दुर्योधनादिको 'मामकाः' कहना और युधिष्ठिरादि भाई पाण्डुके पुत्रोंको 'पाण्डवाः' कहना यह स्पष्ट करता है कि अपने पुत्रोंके प्रति अन्ध कुरुराजकी आत्मीयता और पाण्डवोंके प्रति विद्रोहबुद्धि है। धर्मक्षेत्रके प्रभावसे यदि अपने पुत्र अपने दुष्कर्मोका अनुसंधान पाकर पश्चात्ताप युक्त बनें और उदासीन हो जाय अथवा राज्य त्यागकर पराभव तो नहीं स्वीकार करलेंगे ? धृतराष्ट्रकी चिन्ता का मूल विषय यह है। यद्यपि संजयको भी वह अपना हृदय दिखाना नहीं चाहता इस लिये ऊपरका भाव यह है कि यदि उभय पक्षमें धर्मक्षेत्रके प्रभावसे सन्धि हो जाय तो बहुत अच्छा और उसके हृदयका भाव यह है कि यदि सन्धि हो जाय और

इससे मेरे पुत्रोंको कुछ राज्यका भाग पाण्डवोंके लिये देना पड़े तो प्रथमके समान सकण्टक तथा थोड़ा ही राज्य भाग मेरे पुत्रों-को प्राप्त हो तो मुझे अत्यन्त दुःख होगा ।

धृतराष्ट्रने कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र क्यों कहा है ? इसपर विचार हुआ । अब युद्धमें वे लोग क्या करते हैं इतना ही मात्र नहीं कह कर कुरुक्षेत्र ऐसा शब्द प्रयोग भी क्यों किया है ? धृतराष्ट्रका आशय कुरुक्षेत्र कहनेसे यह है कि यह क्षेत्र भी हमारा ही है जो कि अजमीढके पुत्र कुरुके नामसे विख्यात है और यह अपने पिताके नामसे विख्यात है अतएव यह युद्धभूमि भी हमारी ही है । हमारे स्थान पर पाण्डवोंका हमसे युद्ध करना क्या अधर्म नहीं है ? इससे भी पांडवोंका दुराग्रह लोग जान लेंगे 'किमकुर्वत' का आशय यह भी है कि क्या पांडव युद्ध करनेकी अभी भी इच्छा रखते हैं ? मुझे तो मालूम होता है कि वे युद्ध नहीं करेंगे । हमारे भीष्मद्रोणकर्णादि वीर जगतमें विख्यात है और हमारी सेना भी बहुत बड़ी हैं, क्या भीम अर्जुनादि वनवासी थोड़ीसी सेना लेकर हमारे सामने युद्ध कर सकेंगे ? यह बहुत कम संभव है ।

श्रीभगवद्गीताके कोई व्याख्याकार कहते हैं कि कुरुक्षेत्र-का धर्मक्षेत्र विशेषण गूढार्थ सूचक नहीं हैं; क्योंकि महाभारतके वर्णनके साथ उसका सामंजस्य नहीं होता । उद्योगपर्वके ७१ वें अध्यायमें युधिष्ठिर कहते हैं "महाराज धृतराष्ट्र लोभवश हमारे राज्यांशको विना दिये ही हमारे साथ शांति स्थापित करनेकी इच्छा रखते हैं ।" इससे तो कोई असांमजस्यका

कारण विदित नहीं होता । धृतराष्ट्रका सारथि एवं समीपवर्ति संजय जिस समय अन्ध कुरुराजके समीप कुरुक्षेत्रके युद्धका वर्णन करता था उससमय महायुद्धको दशदिन हो गया है, महावीर भीष्म शरशय्यामें शयन कर रहे हैं, उभय पक्षका असंख्य सैन्य क्षय हो गया है ! दुर्योधनकी जयाशा क्षीण हो रही है ऐसे अवसर पर वृद्ध राजा धृतराष्ट्र पुत्रस्नेहसे लोभाभिभूत होने पर भी पुत्रोंके पराजयके भयसे "धर्मक्षेत्र" के प्रभावसे उस समय भी शांति स्थापनाकी आशा रखना उसके लिये कोई असंगत नहीं । कामी पुरुषोंकी आशा इसी प्रकारकी रहा करती है । जहां पर अपने कार्यकी सिद्धिको कुछभी संभावना नहीं वहां पर भी कामनापरायण लोग आशा रखते हैं । "आशापाशशतैर्बद्धाः" आशानामनदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगा कुलाः" । आशायाः ये दासाः ते दासाः सर्वलोकस्य । आशाहि परमं दुःखम्" । "आशा तृष्णा ना मरी मर मर गये शरीर" प्रभृति अनुभवियोंके शतशः वचन प्रमाण है तथा महाभारतका एक वचन प्रायः सर्वत्र सुप्रसिद्ध है कि "हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते। आशा बलवति राजन् ! शल्यो जयति पाण्डवान्" आशासे ही जीव बन्धा हुआ है, आशाके बलपर प्राणि प्राणोंको धारण कर रहा हैं । जीवनकी आशा तथा सुखकी आशा किसको नहीं है ? महातृष्णातुर, लोभाविष्ट धृतराष्ट्रके अन्तःकरणमें अभी भी अपने पुत्रोंके सुख प्राप्तिकी इच्छा-जय प्राप्ति की कामना है इसीसे कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र विशेषण देकर शान्तिकी आशा रखना उसके लिये असंभव नहीं । वृद्ध राजा धृतराष्ट्र

पुत्रस्नेहके कारण लोभाभिभूत होकर पुत्रोंके पराजयके भयसे धर्मक्षेत्रके प्रभावसे शान्ति स्थापित हो जाय ऐसी आशा रख सकता है। यह जनस्वभाव है और प्रायः लोग विपत्तिके समयमें धर्मके प्रभावको स्वीकार करनेको बाध्य होते हैं! अत-एव उस समय यदि धर्मक्षेत्रके प्रभावसे पाण्डव अथवा कौरव अथवा उभयपक्ष सत्वगुणयुक्त होकर सन्धि करें तो धृतराष्ट्रके पुत्रगण जीवित रहकर राज्यांश भोग कर सकते हैं और पांडव कौरवोंको अपने अभ्युदयकालमें दुःख न देकर क्षमा करेंगे तथा उनका भी प्राप्यांश तथा वैभव नष्ट न करेंगे। ऊपरोक्त निवेद-नसे यह स्पष्ट हो गया कि धृतराष्ट्रका कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहना गूढ़ार्थ परिचायक है।

अब संजयको दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई थी जिससे वह दूरदर्शन तथा दूरश्रवणरूप योगसिद्धिको प्राप्त हुआ था इसमें संजयकी योग्यता थी; किन्तु ऐसी महति शक्ति जिन भगवान् वेदव्यास-जीके द्वारा उसे प्राप्त हुई थी उनके पवित्र चरित्रके सम्बन्धमें तथा उनकी महत्ताके सम्बन्धमें भी यहांपर संक्षेपमें निवेदन किया जाता है। धृतराष्ट्र तथा संजयका एवं भगवान् श्रीकृष्णका तथा अर्जुनका गीताजीके साथ जितना सम्बन्ध है उतना ही सम्बन्ध गीताके साथ भगवान् वेदव्यासजीका भी है। भगवान् वेदव्या-सजीके अनुग्रहसे ही हमें ऊपरोक्त महानुभावोंके कथनोपकथन का श्रवण कीर्तन करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है अतएव हमारे महान् उपकारक ऐसे महानुभावकी महत्ता तथा उनका परिचय हम यहांपर देना उचित समझते हैं।

श्रीभगवद्गीता मन्त्रमाला है इस मन्त्र मालाके ऋषि भगवान् वेदव्यासजी हैं। वेदविभागकर्ता मुनिको व्यासजी कहते हैं। व्यास खास व्यक्तिका नाम नहीं। व्यास वेदविभागकर्ता ऋषिकी पद्वी है। प्रतिद्वापरयुगके शेषभागमें मनुष्योंकी आयुष्य तथा स्मृतिशक्तिके ह्रासको देखकर वेदविभाग कर्ता दयानिधि व्यासजी जन्म ग्रहण करते हैं। जिस कलियुगमें हमने जन्मग्रहण किया है इसी कलियुगके पूर्वयुग द्वापरके शेषमें इस वेदविभाग कर्ता अतिमानव पुरुषने जन्म ग्रहण किया था उनका नाम कृष्ण द्वैपायन व्यास। इनके पिता प्रसिद्ध पराशर मुनिने भी एकबार व्यास बनकर वेदविभाग किया था; किन्तु कृष्णद्वैपायनके समान व्यासने कभी जन्मग्रहण नहीं किया। भगवान् वेदव्यासजीने वेदोंका विभाग किया अष्टादश महापुराण तथा महाभारतके समान महान् इतिहासग्रन्थ लिखा। वेदान्तदर्शन-ब्रह्मसूत्र तथा अन्य अनेक आकर तथा सरल ग्रन्थ प्रणयन किये। भगवान् वेदव्यासजी जीवन्मुक्त थे। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी वे परम-त्यागी थे। महात्मा शुकदेवके समान योगीराजके पिता थे। भगवान् वेदव्यासजीके सम्बन्धमें कहा जाता है कि—

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनो शंभुः भगवान् बादरायणः॥

श्रीभगवद्गीताके संकलनकर्ता तथा गीताके ज्ञानको श्रवण करनेका तथा भगवानके विराटरूपके दर्शनादिका संजयको सामर्थ्य देनेवाले भगवान् वेदव्यासजी सर्वथा समादरणीय हैं। उनके सम्बन्धमें प्रायः सभी अचार्यगण स्पष्ट कहते हैं कि

" व्यासोऽस्माकं गुरुः " व्यासजी हमारे गुरू हैं । गुरू रूपसे व्यासजी का सन्मान और महत्व हमारे पुराणोंमें और महाभारतमें स्थान-स्थान पर पाया जाता है । व्यासजी साक्षात् भगवान के अवतार हैं यह प्रथम भी कहा गया है । आपके अनेक नाम हैं और भिन्न-भिन्न नाम से व्यास प्रसिद्ध हुए हैं । वसिष्ठ, भारद्वाज, उरुनस, बृहस्पति आदि महर्षि भी व्यास संज्ञा से परिचित हैं ।

वेदाव्यासा व्यतीता यै अष्टाविंशति सत्तम ।
चतुर्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः ॥

प्रत्येक द्वापरमें व्यास रूपमें विष्णु ही जगत के कल्याण के लिये आविर्भूत होकर भारतवर्षकी संस्कृति तथा भारतीय इतिहासादिकी रक्षा कर धर्मकी संस्थापनाके महत्वपूर्ण कार्यको करदिया करते हें । सनातनधर्मावलम्बी मात्रके लिये आप गुरुस्थानीय होनेसे गुरुपूर्णिमाके दिन-प्रतिवर्ष आषाढ़शुक्ला १५ के अवसरपर सभी आस्तिक लोग आपका आदरपूर्वक पूजन करते हैं । महाभारतमें लिखा है कि—

यो व्यस्य वेदाँश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥
सत्यवादी शमस्तपस्वी दग्धकिल्विषः ।
सद्योत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः ॥
विव्यासैकं चतुर्द्धा यो वेदं वेदविदांवरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥

अर्थात् वह सत्यव्रत, सत्यवादी, निष्पाप, तपस्वी महात्मा शीघ्र ही प्रकट होकर पिताजीके साथ गया । जिस कवि, ब्रह्मर्षि

पवित्रात्मा और वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ व्यासने एक ही वेदको चार भागमें विभक्त किया। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि—

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखां द्वापरे सोऽल्पमेधसः ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी इसी प्रकारका प्रमाण प्राप्त होता है।

सम्प्राप्य निर्मलं ज्ञानं भ्रमान्धध्वंशदीपकम् ।
पुराण सूत्रं श्रुत्वा स व्यासः पञ्चकलोद्भवः ।
तदा वेदविभागंच पुराणानि चकार ह ॥

विष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थ व्यासजीको भगवानके अवतार बतारहे हैं वहां स्पष्ट लिखा है कि—

कृष्ण द्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
कोऽन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद्भवेत् ॥

यदि व्यासजी ईश्वरके अवतार न होते तो हे मैत्रेय ! कहो किसकी शक्ति है जो समग्र महाभारतकी रचना करता !

यया स कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः ।
वेदव्यासाभिधाना तु सा मूर्तिर्मधुविद्विषः ॥

वेदोंका विस्तार करनेवाली भगवानकी ही मूर्ति वेदव्यास नामसे कही जाती हैं। जिस प्रकार मनु, आदित्य, रुद्र तथा इन्द्रादि देवता अनेक हैं, उसी प्रकार व्यासोंकी भी संख्या २८ हैं। ये प्रत्येक मनुके द्वापरकी सन्धिमें वेदोंका विभाग और विस्तार किया करते हैं। संक्षेपमें कहा जाय तो संस्कृत भाषाका जो वर्तमानकालमें गौरव है तथा हमें यह गीता प्राप्त है वह सब वेदव्यासजीकी कृपाका परिणाम है।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जयः उवाच—तदा (तस्मिन् संग्रामोद्यमकाले) राजा (राजनीतिनिपुणः) दुर्योधनः पाण्डवानीकं (पाण्डवानां पाण्डुपुत्राणां अनीकं सैन्यम्) व्यूढम् (व्यूहरचनया व्यवस्थितम्—धृष्टद्युम्नादिभिः व्यूहरचनया स्थापितम्) दृष्ट्वा (चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य) तु (तु शब्देन पाण्डवानां भयप्रसङ्गो नास्तीत्येतत् द्योत्यते) आचार्यम् (धनुर्विद्याप्रदं गुरुम् द्रोणम्) उपसङ्गम्य (स्वयमेव तत्समीपम् गत्वा आचार्यस्य समीपं गत्वा इत्यर्थः । न तु स्वसमीपे तमाहूय एतेन पाण्डव सैन्यदर्शनजातम् भयम् सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्य्यगौरवव्याजेन भयसङ्गोपनम्) वचनम् (अर्थसहितम् वक्ष्यमाणं वाक्यम् । अल्पाक्षरत्वगम्भीरार्थत्वसंक्रान्तवचनविशेषम्) अब्रवीत् उक्तवान् ।

किमस्मदीयं प्रबलं बलं प्रतिलभ्य धीरपुरुषैर्भीष्मादिभिरधिष्ठितं परेषां भयमाविरभूत् । यद्वा पक्षद्वयहिंसानिमित्तधर्मभयमासीद् येन एते युद्धादुपरमेरन्नित्येवं पुत्रपरवशस्य पुत्रस्नेहाभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्नं सञ्जयस्य प्रतिवचनम् दृष्ट्वेत्यादि । पाण्डवानां भयप्रसंगो नास्तीत्येतत्तु शब्देन द्योत्यते प्रत्युत दुर्योधनस्यैव राज्ञो भयं प्रभूतं प्रादुर्बभूव । पाण्डवानां पाण्डुसुतानां युधिष्ठिरादीनामनीकं सैन्यं धृष्टद्युम्नादिभिरतिधृष्टैर्व्यूहाधिष्ठितं दृष्ट्वा प्रत्यक्षेण प्रतीत्य त्रस्तहृदयो दुर्योधनो राजा तदा तस्यां संग्रामोद्योगावस्थायां आचार्यं द्रोणनामानं आत्मनः शिक्षितारम् रक्षितारम् च श्लाघयन् उपसङ्गम्य तदीयसमीपम् विनयेन प्राप्य भयोद्विग्नहृदयत्वेऽपि तेजस्वित्वादेव वचनमर्थसहितम् वाक्यम् उक्तवान् इत्यर्थः ।

अन्वयार्थ—तदा (उस समय) राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन) पाण्डवानीकं (पाण्डवोंकी सेनाको) व्यूढं व्यूह रचनायुक्त दृष्ट्वा (देखकर) तु (ही) आचार्यम् (द्रोणाचार्यके) उपसंगम्य (समीप जाकर) वचनम् (आगे कहे हुये वाक्यको) अब्रवीत् (बोले) ॥२॥

सरलार्थ—सञ्जयने कहा कि उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचनाके द्वारा अवस्थित अवलोकन कर राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके समीप जाकर आगे कहे हुए वाक्य बोला ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

सञ्जय सत्यवादी है, सञ्जय रागद्वेष रहित है, वह कुरुक्षेत्रकी सम्पूर्ण अवस्थाको अच्छी तरहसे जानता है इसलिये धृतराष्ट्रके प्रश्नको तथा उसके हृदयके आशयको समझकर कहनेको यतउ हुआ । इस द्वितीय श्लोकका अन्वयार्थ तथा सरलार्थ ऊपर दिया गया है । राजा दुर्योधन अभिमानी था वह युद्धारम्भमें अपने स्थानसे च्युत होकर द्रोणाचार्यके पास क्यों गया है ? इसपर संक्षेपमें कुछ निवेदन करके व्यूह-रचनाके सम्बन्धमें कुछ विचार करेंगे । मूलमें 'तदा' है उसका आशय है युद्धारम्भके समय में । सञ्जयने युद्धकी तैयारीका प्रथम सविस्तर वर्णन किया है अब धृतराष्टके यह पूछनेपर कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें मेरे तथा पाण्डुके पुत्र क्या करते हैं ? इसके उत्तरमें सञ्जय कहता है कि पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहरचनामें सुसज्जित देखकर राजा दुर्योधन आचार्यके पास गया । अधिक आत्मीय सम्बन्ध युक्त और वर्त्तमान सेना-

धिपति पितामह भीष्मके पास न जाकर दुर्योधनके समीप क्यों गया ? सेनापति भीष्म हैं। कोई सूचना देनी हो अथवा सन्मान तथा प्रोत्साहन देना हो तो उन्हींके पास जानेसे तो ठीक होता, फिर दुर्योधन द्रोणाचार्यके समीप क्यों गया ? इसका उत्तर तो स्पष्ट है कि कूटबुद्धि दुर्योधनको भीष्मका विश्वास नहीं है। भीष्म पाण्डवोंके शुभचिन्तक तथा उभयपक्षमें शान्ति चाहने वालोंमें प्रधान थे। हमारा तो यहांतक अनुमान है कि पाण्डव कौरवोंमें ही युद्ध होता तो भीष्म शस्त्र धारण नहीं करते। कौरवकुलके पुराने शत्रु और सानिध्यमें रहकर साम्राज्यकी इच्छा रखनेवाले पाञ्चाल इस समय पाण्डवोंके पक्षमें मिलकर कौरवों-का नाशकर भविष्यमें अपने प्रभावको बढ़ाकर कदापि साम्राज्य पद भी प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकारकी कल्पनासे कुरुजातिके प्रधान पुरुष राजनीतिज्ञ भूत भविष्यादिके विचार करनेवाले पितामह भीष्म इस युद्धमें सेनाधिपतिका पद स्वीकार करके युद्ध भूमिमें आये हैं। अपने बाहुबलसे चिर रक्षित जातीय गौरव और प्राधान्यकी रक्षा करनेके लिये भीष्म आज दृढ़संकल्प हुए हैं। प्रथम सत्यवतीके विवाहके अवसरपर उन्होंने जो प्रतिज्ञायें की थी कि मैं तुम्हारे पुत्रोंको ही राज्यसिंहासनारूढ करूंगा, मैं विवाह न करूंगा तथा सदैव राजभक्त बना रहूंगा इन वचनोंको-प्रतिज्ञाओंको पालन करनेके लिये प्रस्तुत प्रसंगमें न्याय-अन्यायका विचार न करके केवल अपने सत्यकी रक्षाके लिये युद्धमें सेना-धिपति बने हैं। फिर भी दुर्योधन स्वयं कूटिल राजनीति युक्त होनेके कारण तथा आसुरी प्रकृतियुक्त होनेके कारण उस कर्तव्य-

परायण महापुरुषके हृदयके भावोंको समझनेमें असमर्थ था अतएव उस आत्मीयजन तथा महापुरुषपर भी सन्देह रखता था और इसीलिये कभी कर्णको और कभी द्रोणाचार्यादिको महत्व देकर उससे अपना कार्य निकलवाना चाहता है। कूटनीतिवाले राजा अथवा राजप्रतिनिधियोंकी ऐसी ही नीति रहती है कि भिन्न २ अवसरपर भिन्न २ व्यक्तियोंको महत्व अथवा गौरव देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेका उद्योग करते हैं। पितामह भीष्मने धृतराष्ट्रको तथा दुर्योधनको बारबार समझाया था कि पाण्डवोंके साथ अन्याय मत करो, स्वजनविद्रोह अपने कुलका नाशक होगा; किन्तु जब उनकी सम्मतिपर इन लोगोंने ध्यान नहीं दिया, तब अपनी प्रतिज्ञाके पालनार्थ तथा कुरुकुलके पुराने विरोधी लोग इस अवसरको पाकर प्रसन्न न हो जाय इसके लिये उनका भी इस अवसरपर नाश करके उनकी साम्राज्य पदकी लालसा नष्ट कर दूंगा। पांचालोंका यह विचार न दुर्योधन समझता था और न युधिष्ठिर, इस रहस्यके वेत्ता तो एक मात्र कुरुवृद्ध पितामह थे, इस लिये उन्होंने अपनी सम्मतिके विरुद्ध इस युद्धमें भी सहकार किया सहायता की, यही नहीं सेनाधिपति भी बन, किन्तु ऐसे राजभक्त महापुरुषका भी दुर्योधनको विश्वास नहीं इस लिये वह आचार्यके पास जाता है। आचार्य भी पांचाल देशके राजाओंके साथ विरोध रखते हैं। व्यक्तिगत द्वेष रखनेवालोंसे भी अनेक बार राजा अपना मतलब सिद्ध कर लिया करते हैं। तृतीय श्लोकमें दुर्योधनके वचनोंका आशय बताते समय हम इन दो बातोंको स्पष्ट करेंगे, यहांपर

यही कहना है कि दुर्योधन अपने कुलवृद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, दूरदर्शी एवं राजभक्त पितामहके प्रति न्यून श्रद्धाके कारण द्रोणाचार्यजीके पास जाता है।

राजा दुर्योधन अभिमानी है वह एक महान् अवसरपर जिस समय उसने अपने ही स्थानपर स्थिर रहना चाहिये था उस समय आचार्यको अपने समीप आमन्त्रित न कर स्वयं जाता है इसमें एक कारण है पाण्डवोंकी सेनाको देखकर भयभीत होना, दूसरा कारण है आचार्यको गौरवदान। प्रथमका कारण स्पष्ट है। दुर्योधन अभिमानी है, कठोर चित्त है, उसके पास युद्धोपयोगी सामग्री तथा योद्धाओंकी कमी नहीं, जिनके सेना-नायकोंमें आत्मीय जन, महारथी ब्रह्मचारी, युद्धविद्या विशारद दृढव्रती भीष्म, धनुर्वेदके प्रधान एवं अद्वितीय आचार्यप्रवर द्रोणाचार्य, उदारचेता महारथी अभिन्नहृदय सखा कर्ण, तथा कृपाचार्य प्रभृति आचार्य, अश्वत्थामा, विकर्णके समान गुरुभाई तथा सहोदर भ्राता एवं अनेक महारथी प्राण तथा वित्तादिकी स्पृहाको छोड़कर उसका हित करनेके लिये आये हैं और उनकी संख्या भी एकादश अक्षौहिणी है भीष्माभिरक्षित अपर्याप्त-अगणित सैन्यका स्वामी पर्याप्त सैन्यवाले तथा युद्धके लिये आवश्यक सामग्री हीन, राज्यसमृद्धि रहित, आत्मीय जन द्वारा ताड़ित तथा अपमानीत दीर्घकाल पर्यन्त वनवासके कष्टोंसे तथा गुप्तवासके पराधीन मानमर्यादाहीन जीवनसे निर्बल बने हुए हैं उन पाण्डवोंसे दुर्योधन भयभीत बनकर अपने स्थान तथा पदके गौरवका विचार न कर निजाश्रित आचार्यके पास क्यों जाता

हैं ? इसका कारण इस श्लोककी टीकामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी स्पष्ट लिखते हैं कि—

आचार्यं धनुर्विद्याप्रदं द्रोणं उपसंगम्य तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहुय, । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयम् सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समोपगमनेऽपि आचार्यव्याजेन भयसङ्गोपनम् राजनीति कुशलत्वात् राजेति राजा राजनीतिनिपुणः ।

पाण्डवोंकी सेनाको देखकर उसके भयभीत होनेमें प्रधान कारण है उसका पाप । "पापः सदा शङ्कते" अपना पाप ही अपने भयका कारण हुआ करता है । पापात्माओंका जीवन भयपूर्ण रहता ही है । शास्त्रकार पापका त्याग करनेके लिये तथा पाप न करनेके लिये उपदेश देते हैं इसका कारण यही है कि पापी मनुष्यको शान्ति तथा सुख नहीं प्राप्त होता है । पापसे बचो, पाप ही तुम्हारा इस लोक तथा परलोकका नाशक है । पापका परिणाम विचारो, जिन्होंने पाप किया है उनके इतिहासको देखो, रावणने परस्त्रीहरणादि पाप किये थे, कंसने अपने पूज्य पितासे राज्य छीनकर अपना जीवन पाप प्रवाहमें बहाया था, जरासंध, दन्तवक्र, शीशुपाल प्रभृतिके पापोंने ही उनका अकालमें ही नाश किया था । प्राचीन इतिहासोंको देखो अथवा वर्तमानकालमें भी जो दुःखित हैं, चिन्तित हैं, सन्तप्त हैं शंकित हैं वे अपने पापोंके ही कारण ! जो परधन हरण करता है, जो परस्त्री गमन करता है, जो परकी सम्पत्ति और समृद्धि स्वायत्त करता है, जो परद्रोह करता है वह सदा भयभीत रहता है, सिंह अरण्यमें और गिरिगुहाओंमें—परम बलवान होते हुए भी क्यों

छिपता फिरता है ? सांप सदैव जनसमाजसे भयभीत हो इतस्ततः भागता फिरता है तथा गुप्तग्रह क्यों ढूंढता है ? तस्करगण तथा डाकूका दल जुआरी और व्यभिचारी नर-नारी क्यों सदैव शंकित रहते हैं ? केवल अपने पापाचार एवं पापप्रवृत्तिके कारणसे ही। "द्रोग्धुर्वै परतो भयम्" दूसरेका द्रोह करनेवालोंको उनसे भय रहता है। जो लोग दूसरेके देश पर, दूसरेके धर्म पर तथा दूसरेकी जाति पर आक्रमण करता हैं तथा उनकी स्वतन्त्रता उनके सुखोंका तथा उनके मान-मर्यादाको नष्ट करता हैं वह भयभीत हो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? दुर्योधनके भयका कारण दुर्योधनकी दुष्ट राजनीति है। इसकी परस्वापहरण रूप पापप्रवृत्ति ही है। हम जबतक दुर्योधनकी वृत्तिका अवलम्बन करेंगे तबतक हमें भी भय रहेगा अतएव निर्भयता प्राप्त करनेके लिये हम पापसे बचें। हम भगवद्धर्म जो "अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम" इसका पालन करें, हम किसीको दुःख न दें, किसीको उद्विग्न न करें, हम किसीका द्रोह न करें, हम दूसरोंको अभय बनावें, हम परमहंस परिव्राजकके दीक्षा समयके उस मन्त्रका उच्चार हृदयपूर्वक करें कि "अभयं सर्वभतेम्यो ददाम्येतत् स्वाहा" हम दैवी संपत्तिके प्रथम लक्षण "अभयम्" का रहस्य अपने जीवनमें अनुभव करें। किन्तु यह सब तभी सम्भव हैं कि हम किसीको भय देनेवाले न बनें सबको "मित्रस्य चक्षुषा" देखें। 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' इस गीताके महावाक्यके भावको समझें ! दुर्योधन दंभसे भयको गुप्त रखता है; किन्तु उसका गुरुके पास जाना उसके भयको स्पष्ट बना रहा है। 'पापः सदा शङ्कते' पाप ही उसके भयका

कारण है। दुर्योधनका पाप असाधारण है यह जतानेकी आवश्यकता नहीं।

अब वह आचार्यके पास जो भयसे भी गया वह उसकी राजनीति है; किन्तु भयके समय दुःखके समय आचार्य चरणके सिवाय दूसरा मार्ग भी तो नहीं। आर्य संस्कृतिमें 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' यह उपदेश सामान्य है, जो दुःख माता नहीं मिटा सकती, जो दुःख पिता नहीं मिटा सकता वह दुःख आचार्य मिटा सकता है। आचार्यकी महत्ता तथा उनकी आवश्यकता तथा उनके शरण जानेका उपदेश हमारे सभी शास्त्रोंमें दिया हुआ है।

'आचार्योपासनम्' यह गीताका उपदेश है, "आचार्यं मां विजानीयात्" यह भागवतका उपदेश है, "आचार्यवान् पुरुषं वेद" यह उपनिषद्का उपदेश है। भारतवर्षमें आचार्योंका तथा राजाओंका जो सन्मान था उनका आदर था वह विदेशियोंके संसर्गसे प्रायः लुप्त होगया है और आचार्योंने तथा राजाओंने अपना स्वधर्म त्यागकर आचार्यभक्ति तथा राजभक्ति लुप्तःप्राय कर दी हैं। आचार्य अपने शिष्योंको सांगवेदोंका अध्ययन कराते थे, वर्तमानकालमें आचार्य या गुरु कान फुंककर या चुटिया काटकर या किसी तरहका बहाना या भेषादि देकर आचार्यपदको दूषितकर संस्कृतिका तथा समाजका ध्वंश कर रहे हैं तथा अपने आश्रितोंको अन्धकारमें रखकर दिनदहाड़े लूट मचा रहे हैं तथा शिश्नोदरपरायण बनकर अपना तथा अपने संगियोंका अकल्याण कर रहे हैं इसीसे शिक्षित एवं आस्तिक

सज्जन जिनकी शास्त्रमें श्रद्धा है, धर्ममें आस्था है, आचार्यभक्ति अथवा गुरुभक्तिके विना हमारा उद्धार नहीं हो सकता यह मानते हैं वे भी वर्तमान समयके कुछ आचार्य तथा गुरुजनोंके वंशजात एवं स्थानापन्नके प्रति आदर भाव नहीं रखते इसमें प्रधान दोष हमारे आचार्य तथा गुरुसमाजका है। आचार्य अथवा गुरुलोग रजस्तमः प्रकृति युक्त होकर स्वधर्मको तथा भगवानको भूलकर प्रमादमें पड़े हुए हैं। आचार्योंके जो धर्म अथवा लक्षण हमारे आर्य-शास्त्रमें बताये गये हैं उनमें प्रधान बात यह है कि जिस विषयका जो आचार्य हो उस विषयका वह पूर्ण वेत्ता हो और अपने शिष्यों-को उसका ज्ञान दें। द्रोणाचार्य पुत्रप्रेमी थे,—द्रोणाचार्य द्रुपदके नित्यवैरी बन गये थे और उसी कारणसे उनका एक प्रकारसे पतन हुआ था, उन्होंने अन्यायीका पक्ष लिया उसका फल भी उन्होंने पाया; किन्तु उनके धनुर्विद्याके आचार्यत्वमें न्यूनता नहीं थी, इस लिये वे दुर्योधनके आचार्य थे। दुर्योधनका कर्तव्य था कि भयसे रक्षा पानेके लिये सहायताके लिये उनके पास जांय। स्वार्थसाधु दुर्योधन आचार्यके पास गया और अपना मन्तव्य जिस प्रकार सिद्ध हो उस प्रकारके वचनोंको कहने लगा।

'दुर्योधनः अब्रवीत्' दुर्योधन बोला इतना ही कहनेके स्थानमें 'वचनं अब्रवीत्' वचन कहने लगा ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि दुर्योधन गुरुको भी बनाकर अपना मतलब सिद्ध करनेके हेतुसे गुरु जिस प्रकार उत्तेजित होकर पाण्डवसेनाके ऊपर आक्रमणकर दुर्योधनका हितसाधन करे। 'वचन' शब्दकी व्या-ख्या करते हुए पूज्यपाद श्रीबलदेव विद्याभूषण लिखते हैं कि

'अल्पाक्षरत्वगम्भीरार्थत्वसंक्रान्तवचनविशेषम्' अल्प अक्षर हो किन्तु वे गम्भीर अर्थको सूचन करनेवाले हों वह वचन कहे जाते हैं। वचन वे हैं कि जिन्हें सुनकर श्रोता उत्तेजित होकर तदनुकूल कार्यमें अन्यबात सोचे विना ही कर्त्तव्यमें आग्रहपूर्वक लग जाय। यहां स्वयं दुर्योधन अपने कार्यके लिये गुरुको उत्तेजना देनेके लिये वचन बोला है और वहां दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें भगवान श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति "वाक्यं उवाच" अर्जुनको स्वकर्तव्य पालनार्थ उत्तेजित करनेवाले वाक्योंको कहते हैं। वचन शब्दका अर्थ है संक्षिप्त तथा अर्थसूचक वाक्य।

पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहरचना युक्त देखकर दुर्योधन भयभीत हुआ है।"व्यूढम्-व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितम्" धृष्ट-द्युम्नादि द्वारा व्यूहरचनामें स्थापित। व्यूह रचनाके सम्बन्धमें लिखा है कि—

समग्रस्य तु सैन्यस्य विन्यासः स्थानभदेतः।
स व्यूह इति विख्यातो युद्धेषु पृथिवीभूजाम्॥

युद्धमें क्षत्रियोंका समग्रसैन्यका स्थानभेदसे विन्यास अर्थात् रचना करना इसे व्यूह कहते हैं। सेनाधिपतिके कार्योंमें प्रधान कार्य है व्यूहरचना करना। अपनी सेनाकी रक्षा हो, अल्पसैन्य होते हुए भी बड़ी सेना शत्रुओंकी दृष्टि पर आवे, अथवा अधिक सेना हो फिरभी शत्रु समझे कि बहुत छोटी सेना है इस प्रकारकी यथोचित युक्तिसे शत्रुकी सेना पर आक्रमण करनेमें सुविधा हो और शत्रु अपने सेनापर आक्रमण कर लाभ न उठा सके उस प्रकार सेनाकी व्यूह रचना उचित है। आक्रमण

स्थानों पर पूरा बल रखा जाय और आगेके योद्धाओंके गिरते ही दूसरे योद्धा उस स्थानपर उपस्थित होकर अपनी सेनाकी रक्षा तथा शत्रुसेनाका नाश कर सके । पाण्डवोंकी सेना व्यूह-रचनामें लगी देखकर दुर्योधन भयभीत हो गया और स्वाभिमान तथा कुलजातिके अभिमानादिको छोड़कर आचार्यके पास गया इसमें भय प्रधान कारण हैं फिर भी 'हे आचार्य ! मैं आपको कितना गौरव देता हूं कितनी भक्ति रखता हूं कि आपके समीपमें युद्धकी परिस्थिति निवेदन करनेको उपस्थित हुआ हैं' । भयके समयमें—भयावस्थामें भी भयको छिपाकर मतलब सिद्ध करनेमें दुर्योधन निपुण है ।

सञ्जयने धृतराष्ट्रको इस श्लोकके द्वारा स्पष्ट समझा दिया कि धर्मक्षेत्रका प्रभाव तुम्हारे पुत्रोंके ऊपर कुछ भी नहीं हुआ हैं । सञ्जयने इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये प्रथम ही दुर्योधनकी हकीक़त कही है । दुर्योधनके ऊपर इस धर्मक्षेत्रका कोइ प्रभाव नहीं पड़ा हैं वह तो द्रोणाचार्यजीके समीप जाकर गुरुको उत्तेजित करनेके लिये एक युक्ति निकालकर गया हैं । गुरुको क्रोधका उद्दीपन करना, गुरुकी सहानुभूति अपनी ओर बढ़ाना इसके लिये प्रयत्न कर रहा हैं । दुर्योधन राजा था और इच्छा करने पर तथा आवश्यकता होने पर अचार्यको अपने पास बुला सकता था, राजा तथा श्रीमान् अपने धनबलसे आचार्योको अपने पास बुलाते हैं । और वे लोग भी धनलोलुपता अथवा पुत्रपरिवार या शिष्य प्रशिष्यादिकी भोगकामना तथा लाभ पूजादिके कारण धनियोंके यहां चले जाते हैं; किन्तु दुर्योधन

राजा है। राजनीतिमें परम कुशल है अपने मतलबके समय स्वयं आचार्यके पास गया है और आचार्यके समीप जानेमें कोई दोष भी नहीं राजा और आचार्य इन शब्दोंका भाव यहां पर ऐसा ही है। दुर्योधन क्या कर रहा है इतना यहां पर प्रथम कह देना सञ्जयने उचित समझा है। हमने भी इस श्लोकके ऊपर कुछ विस्तार कर दिया है। संक्षेपमें हमें अभी भी कहने दीजिये कि दुर्योधनका मूल नाम था सुयोधन; किन्तु उसकी आसुरी प्रकृति को जानकर भगवान् वेदव्यासजीने उसका दुर्योधन नामसे परिचय दिया। उसके सम्पूर्ण जीवनको देखें तो वह आसुरी संपत्तिके लक्षणोंसे युक्त था। आसुरी सम्पत्तिके लक्षण गीतामें इस प्रकार वर्णित है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पद्मासुरीम् ॥

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान ये आसुरी सम्पत्तिके लक्षण दुर्योधनमें पूर्ण मात्रामें थे। आचार्य, मातापितादि पूज्यजन तथा परम प्राज्ञ एवं सबके शुभचिन्तक भगवान् श्रीकृष्ण तथा भक्तवर विदुरजीके वचनों पर भी उसने ध्यान नहीं दिया! उसकी हां में हां मिलानेवाले कर्ण, शकुनि, शल्य, जयद्रथ वगैरहके साथ अपने स्वार्थके लिये अनुराग रखता था और वह अपने अभिमानपूर्ण जीवनसे अनेक अनर्थ कर चुका था उसके ऊपर भला धर्मक्षेत्रका क्या प्रभाव पड़ सकता है? दुर्योधन अपने शिक्षागुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर इन वाक्यों को कहने लगा;—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्‡ ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्य! (भोआचार्य!) पाण्डुपुत्राणां (पाण्डुपुत्रैर्युधिष्ठिरादिभिरानीताम्) एतां (अतिसन्निहितां प्रागल्भ्येनाचार्यमतिशूरञ्च त्वामविगणय्य भयलेशशून्यामवस्थितां) महतीं (अनेकाक्षौहिणीसहिताम्) चमूं (सेनां) धीमता संनिवेशचतुरेण अथवा शत्रोरपि सकाशात् तद्वधोपायभूताविद्या गृहीता इति तस्य धीमत्त्वम्) तव शिष्येण (त्वं स्वशत्रुं जानन्नपि धनुर्विद्यामध्यापितवानसीति तव मन्दधीत्वम्) द्रुपदपुत्रेण (धृष्टद्युम्नेन त्वद्वैरिणा द्रुपदेन त्वद्वधाय धृष्टद्युम्नः पुत्रो यज्ञाग्निकुण्डादुत्पादितोऽस्तीति) व्यूढां (व्यूहरचनया स्थापिताम्) पश्य (अपरोक्षी कुरु)।

शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपदपुत्रेणेति कथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम्॥

अन्वयार्थ—आचार्य (हे गुरो) पाण्डुपुत्राणां (पाण्डुके पुत्रों की) एताम् (इस) महतीं (बड़ी) चमूम् (सेनाको) पश्य (देखो जो) धीमता (बुद्धिमान्) तव (तुम्हारे) शिष्येण (शिष्य) द्रुपदपुत्रेण (द्रुपदके पुत्रने) व्यूढाम् (व्यूह रचनासे स्थापित की है।

सरलार्थ—हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदराजाके पुत्र धृष्टद्युम्नने पांडवोंकी विशाल सेनाको व्यूह रचनामें सजा रक्खी है उसे देखिये ।

---

‡ चमू तथा अनीक शब्दका अर्थ सैन्य होता है।

ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः ।
वरुथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम् ॥

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

दुर्योधन राजा है राजनीतिमें कुशल है । अपने कार्यकी सिद्धिके लिये किसके साथ किस प्रकार बातचित करना उचित है यह वह अच्छी तरहसे जानता है । द्रोणाचार्यका भी भीष्मकी माफिक पाण्डवोंके प्रति अधिक अनुराग था । पुत्र अश्वात्थामामें रागकी अतिशयतासे द्रोणाचार्यने अपने सहाध्यायी एवं बाल्यावस्थाके मित्र राजा द्रुपदसे वैरभाव रखा था, द्रुपदने आचार्यके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया था । बाल्यावस्थामें दिया हुआ वचन भूल गया था यही नहीं; किन्तु आचार्यका उसने घोर अपमान किया था जिसका बदला लेनेके लिये पुत्रानुरागी द्रोणाचार्यने उस समयके बलवान् राज्यका आश्रय ग्रहण किया कौरवोंके यहां धनुर्वेदके अध्यापकका स्थायिपद स्वीकार कर 'मेरे शिष्य द्रुपदको पराजित करेंगे' इसी आशासे हस्तिनापुरमें रहे और उन्होंने प्रधानतया कौरवोंको पढ़ानेके साथ ही पाण्डवोंको तथा अन्य अनेक क्षत्रियबालकोंको भी धनुर्विद्या सिखायी । गुरुदक्षिणामें द्रुपदराजाके साथ युद्ध कर उनको जीवित बांधकर मेरे पास ले आवो यह मांगा । यह कार्य अर्जुनके द्वारा हुआ जिससे कौरवोंका आश्रय होते हुए भी आचार्यकी कृपा तथा अधिक प्रसन्नता अर्जुनके ऊपर थी यह बात दुर्योधन स्पष्ट जानता था । अपने प्रियपुत्र अश्वत्थामाकी अपेक्षा अर्जुनके प्रति आचार्यका इतना अनुराग था कि ब्रह्मास्त्रका फेंकना तो अपने पुत्रको शिखाया; किन्तु संवरण नहीं और अर्जुनको ब्रह्मास्त्रका फेंकना तथा संवरण दोनों शिखाया । अर्जुनका प्रतिस्पर्धी उनका सामना अथवा

समानता कोई न कर सके इसके लिये आचार्यने धनुर्वेदकी शिक्षाके साथ उसका पूरा रहस्य भी उसे शिखाया था । एकलव्य नामक भील आचार्यकी प्रतिमाका पूजन करके तथा उन्हींका ध्यान कर साक्षात् नहीं तो परंपरासे अपने दृढ़ अध्यवसाय तथा उत्साहसे शब्दवेध पर्यन्त शिख गया और एक शब्द करते श्वानके ऊपर अन्धकारमय रात्रीमें उसका प्रयोग करके जब वह जाहिर हो गया तब गुरुद्रोणाचार्यने उस शूद्रको इस विद्याका अनधिकारी समझकर तथा अर्जुनका कदापि यह प्रतिस्पर्धी बन जायगा इस आशंकासे गुरुदक्षिणामें उसका अंगुष्ट मांग लिया था । जिस प्रकार गुरुकी कृपा थी उसी प्रकार अर्जुन भी गुरुभक्त था और इस विद्याके लिये अपने समयमें अद्वितीय अधिकारी तथा मृदु स्वभावका था ।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।

स्निग्ध स्वभाववाले शिष्यको गुरुजन गुह्यज्ञान भी प्रदान करते हैं । अध्यापनके समयमें, परीक्षाके समयमें, द्रुपद सेनाको पराजित कर द्रुपदको सजीवन गुरुसानिध्य लानेमें एवं अन्यान्य अनेक अवसरोंमें अर्जुनकी योग्यता तथा उनके प्रति आचार्यका अनुराग सबने देखा है । खासकर चाणक्य दुर्योधन इस बातको अच्छी तरहसे जानता था इस लिये गुरुकी अर्जुन तथा पांडवोंके प्रतिकी ममता निवृत्त हो जाय उस प्रकार इसने यहां वचन बोलना शुरु किया है । हेआचार्य ! पाण्डुपुत्रोंकी यह महति सेनाको आप देखें । कोई टीकाकार " पाण्डुपुत्राणामाचार्य " । अर्थात् हे पाण्डुपुत्रोंके आचार्य ! ऐसा ही सम्बोधन दुर्योधनने किया है । इस प्रकार लिखते हैं । आप पाण्डुपुत्रोंके आचार्य हो उनके प्रति

आपकी ममता है और उनकी भी आपमें विशेष भक्ति है, यह आप मानते हो; किन्तु इस समय देखो कि तुम्हारी अवज्ञा करते हुए तुम्हारे ही शत्रुके पुत्रको सेनामें प्रधानता देकर तुम्हारा ही सबसे पहिले वे नाश करानेके लिये आयोजन कर रहे हैं। द्रुपदपुत्रेण कहनेमें भी यही उसका आशय है। द्रोणाचार्यका अर्जुन परम प्रिय शिष्य है। युद्धके अवसर पर यदि स्नेहके वश होकर आचार्य युद्धसे विरत हो जाय अथवा शिथिलता प्रदर्शित करेंगे तो अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकेगा इसी विचारसे आचार्यको क्रोधोद्दिपनार्थ ही धृष्टद्युम्न नाम निर्देश न कर उसे वह द्रुपदपुत्र कहता है। द्रुपद राजाने जब कि द्रोणाचार्यने उससे राज्य छीनकर पुनः आधा राज्यभाग अपमान एवं गर्वपूर्वक दिया तब यज्ञपुरुषका आराधन कर द्रोणाचार्यके वधार्थ यज्ञकुण्डसे धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदीको प्राप्त कर वह अवसर देख रहा था। वह अवसर अब आ गया है कि उसी धृष्टद्युम्नके द्वारा द्रोणाचार्यका वध करावेगा। आचार्यको इस बातका स्मरण करानेके लिये 'द्रुपदपुत्रेण' कहा है। तुम्हारा शिष्य होकर तुम्हींसे धनुर्वेद पढ़ कर तुम्हींको मारनेके लिये आया है। कृतघ्नी गुरुद्रोही यह शिष्य दण्डनीय है तथा उनको महत्वपूर्णपद देनेवाले पांडव भी दंडनीय हैं। आपका शिष्य तो बुद्धिमान् है और आप बुद्धिहीन हैं; क्योंकि उसने आपके वधार्थ आपसे विद्या सिखी और अवसर पाकर आपको मारनेके लिये पांडवोंके यहांका सेनाधिपति बन गया उधर आप जानते थे कि यह शत्रुका पुत्र है, आपकेही नाशके लिये यह पैदा किया गया है। फिर भी आपने उसे धनुर्वेद

पढ़ाया । आपके समान अन्य ऐसा कौन बुद्धिहीन होगा ? इसी लिये मैं आपके समीप आकर सावधान कर देता हूं कि आप अपने इस शिष्य धृष्टद्युम्न तथा इसके उत्तेजक आपके पाण्डव शिष्यगणकी करतूतको देखो ! ये इस समय इतने अभिमानी बनगये हैं कि आपको तो ये कुछ भी नहीं समझते अतएव आप अभी भी सावधान हो जाओ ! धृष्टद्युम्नको धीमान् कहनेसे गुरु हिम्मत न हार जांय इसके लिये दुर्योधनने आपका शिष्य है, ऐसा स्पष्ट कहा है उसमें यह भी मतलब है कि वह अवश्य बुद्धिमान है; किन्तु आपका वह शिष्य है आप उससे भी अधिक बुद्धिमान् हैं यदि बुद्धिपूर्वक युद्ध करोगे तो आपके सामने वह कुछ भी नहीं कर सकेगा यह भी कोई टीकाकार कहते हैं ।

सञ्जय इस प्रकारके दुर्योधनके कूटिलता पूर्ण स्वार्थ सिद्धिके निमित्त उच्चार किये हुये वचनोंको कहकर धृतराष्ट्रको समझाता है कि आपके दुष्टपुत्र पर धर्मक्षेत्रका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है । आचार्यके सामने धृष्टद्युम्नको "धीमता, तव शिष्येण" ये विशेषण देनेमें तथा 'द्रुपदपुत्रेण' कहनेमें दुर्योधनका आशय अति ही गूढ़ है । राजाओंकी कुटिल राजनीति ऐसी ही होती है कि अपना कार्य सिद्ध करनेके समय दूसरोंको इस प्रकार बना लिया करते हैं । चाहे वे कोई भी क्यों न हो ।

"महतीं चमूम्" इस पर अब विचार करेंगे । चमू अर्थात् सैन्य । साधारणतया सैन्यके विभागविशेषको चमू कहते हैं । इस समय जिस प्रकार सेनाओंमें विभाग है उसी प्रकार प्राचीन समयमें भी विविध विभाग थे । इस विभागके सम्बन्धमें

अमरकोषमें लिखा है—

एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातयः ।
पत्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् ॥
सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः ।
अनीकिनी दशानीकिन्यक्षौहिण्यथ सम्पदि ॥

इस श्लोककी व्याख्या समझनेके लिये निम्न विवरण-(कोष्टक) उपयुक्त होगा।

नाम	हस्तिसंख्या	रथसंख्या	अश्वसंख्या	पदातिसंख्या	जोड़
१ पत्ति	१	१	३	५	१०
२ सेनापति	३	३	९	१५	३०
३ गुल्म	९	९	२७	४५	९०
४ गण	२७	२७	८१	१३५	२७०
५ वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५	८१०
६ पृतना	२४३	२४३	७२८	१२१५	२४३०
७ चमू	७२८	७२८	२१८७	३६४५	७२८०
८ अनीकिनी	२१८७	२१८७	५५४१	१०९३५	२१८७०
९ अक्षौहिणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९७५०	२१८७००

महाभारत युद्धके अवसरपर कुरुक्षेत्रमें कौरवोंके पक्षमें ११ अक्षौहिणी सेना और पाण्डवोंके पक्षमें ७ अक्षौहिणी सेना थी।

'व्यूढाम्' का मतलब है युद्धकालमें सेनापति जो खाश खाश प्रणालीसे सेनाकी रचना करते हैं उसको व्यूह कहते हैं। व्यूह साधारणतया छः प्रकाके जैसे कि मकर, श्येन, सूचि, शकट, वज्र और सर्वतोभद्र। महाभारतमें लिखा है कि भीष्मके द्वारा रचे हुए कौरव सैन्य व्यूहका सामना करनेके लिये पाण्डवोंने वज्र व्यूहकी रचना की थी।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अत्र (अस्यां सेनायां) महेष्वासाः (इषवो बाणाः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते एभिरिति इष्वासा धनुंषि, महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशलाः) युधि (युद्धे) भीमार्जुन समाः (भीमार्जुनौ तावदत्रातिप्रसिद्धौ योद्धारौ ताभ्यां समाः तुल्याः बहवः शूराः (शस्त्रास्त्रकुशलाः सन्ति तानेव नामभिर्निर्दिशति) महारथः युयुधानः (सात्यकीः) विराटश्च द्रुपदश्च । वीर्यवान् धृष्टकेतुः चेकीतानः काशीराजश्च । नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठः) पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च । विक्रान्तः युधामन्युश्च । वीर्यवान् उत्तमौजाश्च सौभद्रः (अभिमन्युः) । द्रौपदेयाश्च (द्रोपदीपुत्राः) युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यः क्रमात् द्रौपद्यां जाताः प्रतिविन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक श्रुतकर्माख्याः पञ्चपुत्राः । च शब्दात् अन्ये च घटोत्कचादयः । पञ्च पाण्डवास्तु अतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः सप्तदश अन्येऽपि तदीयाः) सर्व एव महारथाः (सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथ्यर्द्ध रथो वा)।

अत्र अमृततरंगिणी टीकाकाराः विवृण्वन्ति। एवं सेनां दर्शयित्वा तस्याः प्रबलत्वसूचनाय तत्स्थितान् शूरान् वर्णयन्ति । अत्रेति । अत्र अस्यां सेनायां इषवो अस्यंते एभिरितीष्वासाश्चापाः । महान्त इष्वासा येषां ते महेष्वासा शूरा महेष्वासा इति पदद्वयेन स्वतः शिक्षातश्च सामर्थ्यं दर्शितम् । युद्धि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः सन्ति । भीमार्जुनावतिबलाविति तत्समत्वेन गणिताः । युधीतिपदनान्यत्र न तत्समा दानादिष्विव्यर्थः तानेव गणयति युयुधान इत्यादिभिः युयुधानः

सात्यकिः । विराटद्रौपदौ राजानौ धृष्टकेतुप्रभृतिराजानोऽसंबद्धा अस्मच्छत्रवश्च । वीर्यवानिति प्रत्येकं सर्वेषां विशेषणम् । विक्रान्तः अति पराक्रमी वीर्यवानिति सौभद्रविशेषणम् । द्रौपदेयाः पंच प्रतिविन्ध्यादयः । सर्वएव महारथाः महारथलक्षणं च । "एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथीचैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोद्‌र्धरथस्मृतः" इत्यादि ४, ५, ६ ।

अन्वयार्थ—अत्र (इस सेनामें) शूराः (वीरगण) महेष्वासाः (महाधनुषधारिगण) युधि (युद्धमें) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके तुल्य) महारथाः (एकाकी ग्यारह हज़ारके साथ लड़नेवाले महारथी) युयुधानः (सात्यकि) विराटः च द्रुपदः च (विराट और द्रुपद) वीर्यवान् (वीर) धृष्टकेतुः चेकितानः काशिराजश्च (धृष्टकेतु, चेकितान और काशीराज) नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ट) पूरुजित्, कुन्तिभोजः च शैब्यः च (पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्य) विक्रान्तः (पराकमी) युधामन्युः (युधामन्यु) वीर्यवान् (वीर) उत्तमौजाः च (उत्तमौजा) सौभद्रः (सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु) द्रौपदेयाः (प्रतिविन्ध्य आदि द्रौपदीके पांच पुत्र) च (अन्य भी घटोत्कच आदि) सर्वे एव (ये सभी) महारथाः (महारथी हैं)।

सरलार्थ—इस सेनामें भीमअर्जुनके समान महान् बलशाली तथा धनुषधारी महारथ सात्यकि, विराट और द्रुपद, वीर धृष्टकेतु चेकितान और काशीराज नरश्रेष्ठ पुरुजित, कुन्तिभोज और शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु, द्रौपदीतनय प्रतिविन्ध्यादि और घटोत्कचादि वीरगण उपस्थित है । ये सभी महारथी हैं ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

श्रीद्रोणाचार्यके समीपमें दुर्योधनने जो प्रथम श्लोकमें वचन कहे हैं जिससे स्वार्थ सिद्ध करनेवाली उसकी कथनप्रणालिका मालूम हो गयी। उसने जिस प्रकार बनसके उस प्रकार गुरुको युद्धार्थ उत्तेजित करनेके लिये और आचार्यकी प्रथमकी भूलें जो उन्होंने पाण्डव और धृष्टद्युम्नको विद्या पढ़ाकर की हैं उसको स्मरण कराके अब सावधान रहनेके लिये निवेदन किया। फिर उसके मनमें विचार आया कि मैंने केवल धृष्टद्युम्नका नाम-निर्देश किया, जिससे द्रोणाचार्य मनमें समझेंगे कि इस सामान्य योद्धा धृष्टद्युम्नसे दुर्योधन व्यर्थ ही भयभीत होता है। इसी विचारसे दुर्योधन फिर कहने लगा कि देखिये आचार्य! केवल धृष्टद्युम्न ही नहीं इस पाण्डव सेनामें विश्वविजयी भीमार्जुनके समान धनुर्धारी और पराक्रमी वीर अन्य भी अनेक हैं ये भी उपेक्षणीय नहीं हैं। खास खास वीरोंका नामोच्चार करके उनके गुणगौरव गान कर द्रोणाचार्यको अधिक बल और उत्साहपूर्वक युद्ध करनेकी प्रेरणा कर दुर्योधन अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। मतलबी मनुष्य विना प्रयोजन किसीके पास न जाते हैं और न किसीसे अधिक वार्तालाप ही किया करते हैं। दुर्योधन गुरुको युद्धकी पूरी परिस्थिति संक्षेपमें; किन्तु स्पष्टरूपसे समझा रहा है। महेष्वासाः शब्द साधारण जनोंसे अपरिचित होनेसे इसकी व्युत्पत्ति समझायी जाती है। 'इषवो बाणाः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते एभिरिति इष्वासाः' इषु नाम बाण जिसके द्वारा वेगसे निक्षिप्त किये जांय उसको इष्वास अर्थात् धनुष्य कहते हैं। इषु

बाणका नाम हैं और इष्वास धनुष्यका नाम हैं। 'महान्तः अन्यैः अप्रधर्ष्या इष्वासा येषां ते महेष्वासाः' महान् अर्थात् अन्यके द्वारा अप्रधर्ष्य हैं धनुष्य जिनके वे महेष्वासा कहे जाते है। इस पांडव सेनामें ऐसे वीर हैं कि जो दूरसे ही दुर्विसह तीव्र शराघातसे-बाणप्रहारसे शत्रुके सैन्यका संहार करनेमें समर्थ और युद्धकुशल हैं। जिनके नाम मात्र यहां निवेदन करता हूं।

(१) युयुधान (२) विराट (३) द्रुपद (४) धृष्टकेतु (५) चेकितान (६) काशीराज (७) पुरुजित् (८) कुन्तिभोज (९) शैव्य (१०) युधामन्यु (११) उतमौजा (१२) अभिमन्यु, (द्रौपदीके पांचपुत्र) (१३) प्रतिविन्ध्य (१४) श्रुतसेन (१५) श्रुतकीर्ति (१६) शतानीक (१७) श्रुतकर्मा (१८) घटोत्कच इन सब योद्धाओंका परिचय स्वतन्त्र रूपसे अन्यत्र दिया जायेगा। संक्षेपमें उनका परिचय इस प्रकार है—

(१) युयुधान—इसका दूसरा नाम हैं सात्यकी यह भगवान् श्रीकृष्णका सारथी एवं महारणमें अक्लान्त अर्थात् नहीं थकने वाला। अपने कर्त्तव्यमें यह सात्यकि अत्यन्त उत्साह युक्त एवं नियमित हैं।

(२) विराट—राजा विराट शत्रुओंका वार वार पराभव करने वाला और शत्रुओंको इतस्ततः घुमाता हुआ क्लेश देनेवाला।

(३) द्रुपद—द्रु अर्थात् वृक्ष और पद अर्थात् चिन्ह, वृक्षांकित विजय पताका जिसकी सदा उड़ रही थी इस द्रुपदराजाके साथ द्रोणाचार्यका अत्यन्त वैरभाव था।

(४) धृष्टकेतु—धृष्ट अर्थात् शत्रुओंको भय देनेवाला और केतु

अर्थात् ध्वजा । जिसकी उड़ती हुई ध्वजाको देखकर शत्रुगण भयको प्राप्त होते थे यही चेदिराज हैं ।

(५) चेकितान—वीरवर राजा चिकितानका पुत्र परम पराक्रमशाली ।

(६) काशीराज—जहांपर जानेसे दिव्यज्ञान प्रकाशित होता है उस काशीपुरीके राजा ।

(७) पुरुजित्—पुरु अर्थात् अनेक और जित अर्थात् जीतना जिसने अनन्त शत्रुशैन्यको बार बार जीतकर पुरुजित् संज्ञा प्राप्त की है । यह सुप्रसिद्ध राजा कुन्तिभोजका भ्राता था ।

(८) कुन्तिभोज—राजा कुन्तिभोज वसुदेवजीके परम मित्र थे और कुन्ताजीको पुत्रीरूपसे वसुदेवजीसे माँगकर महाराज पाण्डुके साथ उसका विवाह किया । पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बुआ तथा परमभक्त कुन्ताजीको पुत्री रूपसे स्वीकार करना और समय समय पर पाण्डवोंकी सहायता करना यह राजा अपना धर्म समझते थे ।

(९) शैव्य—सुप्रसिद्ध शिवी राजाके कुलमें उत्पन्न होनेवाले ये शैव्य थे ।

(१०) युधामन्यु—युधा अर्थात् युद्ध और मन्यु अर्थात् क्रोध युद्धका नाम सुनते ही जिसका क्रोध उद्दीपन होता था ऐसे युधामन्यु पांचाल देशके विक्रान्त राजा ।

(११) उत्तमौजा—ओजस् अर्थात् बल जिसका बल विक्रम प्रशंसनीय है उसको उत्तमौज कहते हैं । ये भी पांचाल देशका राजा था ।

(१२) सौभद्र–सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु जो सुभद्राके गर्भवासके समयमें ही युद्ध विद्याका ज्ञान प्राप्त कर समय समय पर अपने बल बुद्धिका पूर्ण परिचय दे चुका था।

(१३) द्रौपदेयाः–अर्थात् द्रौपदीके पांच पुत्र जो पांच पांडवसे उत्पन्न हुए थे। युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे श्रुतसेन, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतकर्मा।

इसके उपरान्त मूलमें च हैं उससे घटोत्कच प्रभृति समझना। यहां पर भीमार्जुनादि पांच पाण्डवोंका नाम दुर्योधनने नहीं लिया इसका कारण इन भीमार्जुनका पराक्रम विख्यात हैं और इस रणभूमिमें यही प्रधान युद्धनायक हैं।

दुर्योधन अभिमानी है फिर भी युद्धकी परिस्थिति वर्णन करने के समयमें जो यथार्थ बात हैं उसीको आचार्यके समीपमें निवेदन करता हुआ स्पष्ट कहता है कि पाण्डवोंकी सेनामें केवल धृष्टद्युम्न ही वीर हैं यह बात नही हैं। अन्यान्य अनेक पराक्रमी योद्धा इस सेनामें हैं। ऐसे महान् योद्धाओंका मुकाबला करनेके लिये हमारे सभी योद्धाओंको अपना पराक्रम दिखानेका अवसर हैं। इस हेतुसे भी दुर्योधन पाण्डव सेनाका वर्णन कर प्रधान योद्धाओंका नाम बताता हुआ कहता हैं कि ये सभी वीर हैं, महान् अस्त्रशस्त्रसे सुसज्जित हैं, युद्धविद्यामें विशारद-निपुण हैं, और भीम तथा अर्जुनके समान पराक्रमी तथा उत्साही हैं।

एको दशसहस्राणि योधयेत् यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान् योधयेत् यस्तु स प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथी चैकेन यो योद्धा तन्यूनोर्द्धरथस्तु सः॥

जो एकाकी दश सहस्र धनुर्धारीके साथ युद्ध करें और शस्त्रशास्त्रमें प्रवीण हो वह महारथी कहा जाता हैं। जो एकाकी अपरिमित सैन्यके साथ युद्ध करें वह अतिरथ कहा जाता है। जो एक योद्धाके साथ युद्ध करना हैं वह रथी कहा जाता है और रथीकी अपेक्षा न्यूनवीरके साथ जो युद्ध करता है वह अर्द्धरथी कहा जाता है। ४, ५, ६।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

एवं तत्सैनिकानुक्त्वा स्वीयानाह प्रोत्साहनार्थं अस्माकमित्यादिभिः। हे द्विजोत्तम! द्विजोत्तमेति विस्मृतिसंभावनया सम्बोधनम् तु अस्माकं (सर्वेषां मध्ये) ये विशिष्टाः (श्रेष्ठाः बलबुद्धिशालिनः बुद्ध्यादिबलशालिनः) तान् (मयोच्यमानान्) निबोध (निश्चयेन मम वचनादवधारय) ये च मम सैन्यस्य नायकाः (नेतारः) तान् संज्ञार्थं (सम्यक् ज्ञानार्थम्) ते (तुभ्यं) ब्रवीमि (विज्ञापनं करोमि) अथवा मया विशेषेण स्वरूपतः ज्ञायते न वा इति ब्रवीमि।

अन्वयार्थ—हे द्विजोत्तम! (हे द्विजश्रेष्ठ आचार्य!) अस्माकं (हमारे) तु (किन्तु) ये (जो वीरगण) विशिष्टाः (श्रेष्ठ) मम (अपने) सैन्यस्य नायकाः (सेनाओंके नेता हैं) तान् (उनको) निबोध (जानिये) ते (आपके) संज्ञार्थं (ठीक ठीक जाननेके लिये) तान् ब्रवीमि (उनके नाम कहता हूं)।

सरलार्थ—हे द्विजोत्तम-आचार्य! किन्तु हमारे भी पक्षमें जो प्रधान प्रधान व्यक्ति तथा सेनानायक एकत्रित हुए हैं उनको देखिये, आपके विशेष विदितार्थ उनके नाम लेता हूं।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

दुर्योधनने आचार्यके समीपमें पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान योद्धाओंका तथा उनकी सेनारचनाका वर्णन किया तत्पश्चात् उसके मनमें विचार हुआ कि आचार्य अभी मुझको ऐसा न कहदें कि जब पाण्डवोंकी सेना तथा उसके योद्धाओंके द्वारा तुझे भय है तो उनसे सन्धि करलें । उनका भाग उन्हे देनेसे युद्ध करना न पड़ेगा, इस भावनासे भयको गुप्त रखकर दुर्योधने कुशलता पूर्वक अपने पक्षके वीर योद्धाओंका नाम निर्दिष्ट कर उनकी योग्यता तथा उनकी अपने साथ कितनी सहानुभूति है यह तीन श्लोकसे वर्णन कर गुरुको उनके कर्तव्यके सम्बन्धमें वचन कहता है ।

दुर्योधनने आचार्यको द्विजोत्तम सम्बोधन देकर उनका गौरव प्रदर्शित किया है और अपने कार्यमें सहायक बननेकी भी प्रार्थना की है; किन्तु उसका भीतरी कारण कुछ और ही है । द्रोणाचार्य पाण्डवोंके प्रति अधिक स्नेह करते हैं इस विचारसे उनके प्रति अविश्वास तथा कुछ अभाव है इस भावसे पक्षान्तरमें कोई टीका-कार कहते हैं कि आप द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणोंमें उत्तम हैं; फिर भी क्षत्रिय धर्ममें प्रवृत्त हैं अतएव स्वधर्मभ्रष्ट है, इस प्रकारकी निन्दाका भाव भी सूचित होता है । साथ ही आप ब्राह्मण हैं इस लिये आपका गौरव करना मेरा धर्म है । आपके ऊपर न मेरा आधार है न आपके भरोसे मैंने यह युद्धारंभ किया है यह कार्य तो हम क्षत्रियोंका है आप द्विजोत्तम हैं । आचार्यका कार्य अर्थात् सिखानेका कार्य आप कर सकते हैं युद्धका कार्य हमी लोग करेंगे; क्योंकि युद्धमें जिस विशेष निपुणता चाहिये वह

हमारे भीष्मकर्णादिमें मौजूद है । कदापि आप पाण्डवोंके पक्षका अवलम्बन करेंगे तो भी मेरी कोई हानि नहीं । हमारे भीष्मादि क्षत्रियोत्तम सेनाधिनायक हैं । मैं आपके समीप उनका स्मरण ताजा करानेके लिये उनमेंसे कई एकके नाम सुनाता हूं उसे सुनिये । यदि आप पाण्डवोंकी सेनाको देखकर भयभीत हुए हों तो आपको भयका कोई कारण नहीं हैं हमारे योद्धागण उनका सामना करनेके लिये पर्याप्त हैं और अपने प्रिय शिष्यकी सेना को देखकर यदि आपको हर्ष हुआ हो तो वह व्यर्थ है; क्योंकि भीष्मादि वीरेन्द्रकेशरी हमारे पक्षमें हैं । दुर्योधन एक तरफसे द्विजोत्तम शब्द प्रयोगके द्वारा तथा स्वयं समीप आकर विविध वचन कहकर आचार्यको गौरव देता है, सहायता मांगता है और दूसरी तरफसे इन शब्दोंके द्वारा गुरुका अनादर करता हुआ अपनी दुरात्मताको स्पष्ट कर रहा है । दुरात्मा और महात्माका भेद बताते हुए एक नीतिकारने जो कहा है उससे उसकी दुरात्मता स्पष्ट होती है ।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ॥

महात्माओंके मन, वचन कर्ममें एक ही बात रहती है और दुरात्माओंके मनमें, वचनमें तथा कर्ममें भिन्न भिन्न बातें रहती हैं । दुर्योधन दुरात्माओंका शिरोमणि है । यह साक्षात् कलिका अवतार है । युधिष्ठिर महात्माओंका शिरोमणि है यह साक्षात् धर्मावतार है । भगवान् दुरात्माओंके काल और महात्माओंकी आत्मा हैं ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

भवान् (सर्वेषां आचार्यो अस्माकं मुख्यः । त्वया कार्यार्थे अन्ये प्रेर्याः 'उभयोः द्रोणसामर्थ्यं' इति वाक्यात् परमबलीति पूर्वं गणितः ।) भीष्मश्च (भीष्मश्च तथैव मुख्यः ।) चकारेण क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्याभावमाशंक्य पितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते ।) कर्णश्च (कर्णस्याप्यग्रेऽर्द्धरथिषु गणनात् स दुःखितो भविष्यतीति सोऽपि मुख्यत्वेन गणितः इदमेव चकारेण गृह्यते । समितिंजयः समितिं संग्रामं जयतीति संग्रामविजयी) कृपश्च (कृपाचार्योऽपि तथा) अश्वत्थामा (त्वत्पुत्रः) विकर्णः च (मद्भ्राता कनिष्ठः) सौमदत्तिः (सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वात् भुरिश्रवाः) अन्ये च (शल्यकृतवर्माप्रभृतयः) बहवः शूराः मदर्थे (मत्प्रयोजनाय) त्यक्तजीविताः (जीवित त्यागेनापि यदि मदुपकारः स्यात्तथा तमपि कर्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः) सर्वे नानाशस्त्रप्रहरणाः (नानाविधान्यनेकप्रकाराणि शस्त्राणि खड्गादीनि आयुधानि प्रहरणानि प्रहरणसाधनानि गदादीनि इति यावत् येषां ते युद्ध विशारदाः) युद्धे विशारदाः अतिनिपुणाः । ८, ९ ।

अन्वयार्थ—भवान् (आप) भीष्मः च (और भीष्म) कर्णः च (तथा कर्ण) समितिंजयः (युद्धविजयी) कृपः च (कृपाचार्य भी) अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) विकर्णः च (और मेरा छोटा भाई विकर्ण) सौमदत्तिः (सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा) जयद्रथः (सिन्धुराज जयद्रथ) मदर्थे (मेरे लिये) त्यक्तजीविताः (प्राण त्यागनेको भी प्रस्तुत) नानाशस्त्रप्रहरणाः (शत्रुको प्रहार करनेके

साधन रूप अनेक शस्त्रोंसे युक्त) सर्वे (सबके सब) युद्धविशारदाः (युद्धमें निपुण) अन्ये च (और भी) बहवः (अनेक) शूराः (वीरगण) हैं ।

सरलार्थ—स्वयं आप, भीष्मदेव, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा तथा जयद्रथ ये सब हमारे दलमें विशिष्ट नेता गण हैं । इनके सिवाय कृतवर्मादि और भी अनेक वीर हैं जो युद्धकलामें परमनिपुण, शत्रुप्रहारयोग्य अनेक शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा मेरे लिये सदा प्राण तक देनेको प्रस्तुत हैं ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

अब तक गुरु कुछ भी नहीं बोले, फिर भी दुर्योधन मनमें विविध प्रकारके तर्क करता हुआ वचनोच्चार कर रहा है । दुर्योधन ने प्रथम पाण्डव पक्षके योद्धाओंका तथा उनकी सेना रचनाका वर्णन, किया फिर उसने प्रथम कहा गया है तदनुसार मनमें विचार किया कि पाण्डव पक्षकी सेनाके वर्णनसे गुरु यह समझेंगे कि दुर्योधन भयभीत हुआ है इससे यह अच्छा अवसर है इसीसे कह दें कि "तुम जब पाण्डव सेनासे भय पा रहो हैं तो उनसे सन्धि ही कर लो । जब उनके साथ युद्ध करनेमें तुम असमर्थ हो तो अभी भी समय है, सन्धिकर मित्रता कर लो" । उसे यह इष्ट नहीं हैं और गुरुके ऐसे कह देनेके पश्चात् प्रतिवाद करना इसकी अपेक्षा गुरुको यह कहनेका अवसर ही न देना अच्छा है ऐसा विचार कर अपने सेनानायकोंका नाम, उनका बल तथा उनकी अपने प्रतिकी निष्ठा वगैरहका वर्णन करता है । यह भी एक

कल्पना की जा सकती है कि गुरु पाण्डव सेनाके प्राबल्यवर्णनको सूनकर स्वयं भी भय पा सकते हैं तो उनकी भयनिवृत्तिके लिये भी स्वसैन्यका वर्णन समुचित शब्दोंमें वह शीघ्र ही करने लगा। दुर्योधन भयभीत है, संशयात्मा है, गुरुको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहता, फिर भी स्वार्थ सिद्धिके लिये वह वाक्पटुता दिखाता हुआ सबसे पहिले गुरुकी ही गणना अपने सेनानायकोंमें करता हुआ कहता है कि भवान् अर्थात् आप! स्वार्थी लोग जिनके पास जाते हैं, जिससे बात करते हैं; मुखपर उसीको महत्ता देते हैं, चाहे हृदयमें उनके प्रति सम्मान न्यून भी क्यों न हो? धूर्त दुर्योधन द्रोणाचार्यको सन्तुष्ट रखनेके लिये उनके सामने भीष्म कर्णादिका प्रथम नाम निर्देश न कर द्रोणाचार्यजीका नामोल्लेख करता है, अपने भ्राता विकर्णके पूर्वमें अश्वत्थामाका नाम लेनेमें भी उसकी वही नीति है। यह जनस्वभाव है कि अपना तथा अपने पुत्रका नाम अग्रपंक्तिमें देखकर प्रसन्न होना। विशेषतया आचार्यका पुत्र–मोह प्रसिद्ध है। उसको दुर्योधन अपने सहोदर भ्राता विकर्णसे भी अधिक प्यार करता है यह 'अश्वत्थामा विकर्णश्च' कह कर स्पष्ट करता है।

श्रीद्रोणाचार्य, भीष्मपीतामह, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ ये सभी योद्धा सुप्रसिद्ध हैं (कहांपर जयद्रथके स्थानपर तथैवच ऐसा भी पाठ है) इन सबका परिचय महाभारतमें दिया हुआ है यहां पर हम विस्तार भयसे नहीं दे सकते। द्रोणाचार्यके समय इतने नामनिर्देश करने के पश्चात् दुर्योधनको विचार आया कि गुरु मनमें लावेंगे कि बस

यही तेरे पक्षके हैं इसके सिवाय कोई वीर नहीं हैं इस गुरुकी भावनाको दूर करनेके लिये तुरन्त ही दुर्योधन कहता है कि–महाराज! मेरी सेनामें और भी अनेक शूरवीर हैं, यहां अन्य शब्दसे शल्य, कृतवर्मा, भगदत्त वगैरह समझना। ये सब योद्धा मेरे लिये जीवन त्याग करने वाले तथा विविध अस्त्रशस्त्र प्रहार करने वाले तथा युद्धमें विशारद हैं। शूराः इत्यादि विशेषण द्वारा अपनी सेनाका अधिक बल, युद्धाग्रह, रणनिपुणता एवं अपने प्रति प्रगाढ़ अनुरागादि प्रदर्शित कर उसने गुरुको उत्तेजना एवं अश्वासन दिया है।

अब इस श्लोककी संस्कृत व्याख्यामें जो कुछ लिखा गया है उसका भाव भी यहां हिन्दीमें लिखदिया जाता है। संस्कृत व्याख्या सरल है उसको पढ़िये। आप स्वयं समझ जांयगे। देखिये 'भवान् भीष्मश्च' कर्णश्च इनका भाव कितना उत्तम एवं स्पष्ट है। वहां पर हमने संस्कृत प्राचीन व्याख्याकारोंकी सम्मतिके अनुसार एक एक शब्दका भाव किस प्रकार दिया है। तथा अभी भी कई भाव निकल सकते हैं उनमेंसे कुछ देखिये।

भवान्–सर्वेषां आचार्यो अस्माकं मुख्यः। त्वया कार्यार्थं अन्ये प्रेर्याः। 'उभयोः द्रोणसामर्थ्यम्' इति वाक्यात् परमबलीति पूर्वं गणितः'।

आप सबके आचार्य हैं फिर भी हमारे प्रधान हैं। हम आपको अन्यजनोंके समान साधारण आचार्य ही नहीं मानते हम अपने प्रधान व्यक्तियोंमें आपको मानते हैं अथवा अन्यके आचार्य यद्यपि आप हैं, किन्तु हमारे मुख्याचार्य हैं। इस बातका ख्याल करके आप स्वयं अन्यको कार्यार्थ सूचना एवं प्रेरणा दें

मैं अथवा अन्य सेनाधिपति भी आपको प्रेरणा देने योग्य नहीं। यद्यपि भीष्म सब प्रकार समर्थ हैं; किन्तु आप दोनोंके बीचमें आप का सामर्थ्य अधिक है यह हम लोग मानते हैं। हमारे महान् सेनाधिपति, पितामह भीष्मसे भी सर्वविध अधिक समझकर मैं आपके समीप इस समय आया हूं और देखिये आपको ही यहां अपनी सेनानायकोंमें प्रधान रूपसे मानकर प्रथमही भवान् शब्द-का प्रयोग कर आपका आदर करता हूं।

भीष्मश्च—भीष्मश्च तथैव मुख्यः चकारेण क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्या-भाव माशंक्य पितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते।

आपके पश्चात्; किन्तु आपके समान वे भी सबके पितामह होते हुए भी हमारे ही प्रधान हैं। हम उनको जितनी प्रधानता देते हैं उतनी अन्यको नहीं और वे अन्यके प्रधान नहीं हमारे ही प्रधान हैं। आप और भीष्म ये दोही इस युद्ध भूमिमें महान् हैं। ये दोनों मेरी सेनाके नायकोंमें प्रधान हैं। अब भीष्म बलवान् हैं किन्तु क्षत्रिय होनेके कारण शाप देनेका सामथर्य उनमें नहीं हैं यह बात भी नहीं; क्योंकि ये पितामह हैं इस लिये शाप देनेकी शक्ति उनमें हैं। शापानुग्रह सामर्थ्य मुख्य ब्राह्मणमें है फिर भी मातापितादि एवं कुलवृद्ध तथा सती, व्रती ये किसी भी जातिके क्यों न हों वे शापानुग्रहमें शक्तिशाली हैं इस प्रकारके उदाहरण इतिहासमें अनेक मौजूद है।

कर्णकी आगे अर्द्धरथियोंमें गणना करनेसे कदापि वह दुः-खित होगा इस लिये उसकी भी यहां प्रधानव्यक्तियोंमें गणना है, यह कर्णश्चके चकारसे समझना। दुर्योधन आचार्य, भीष्म एवं कर्णको प्रायः समान समझता है और कर्णको अपना परम मित्र उत्साही एवं योग्य समझ अधिक विश्वास करता है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।१०।

तत् (तथाभूतैर्वीरैर्युक्तम्) भीष्माभिरक्षितम् (भीष्मेण अतिसूक्ष्मबुद्धिना अभितः सर्वतो रक्षितम् अस्माकं बलं (सैन्यम्) अपर्याप्तम् अपरिमितम् अनन्तम् एकादशाक्षौहिणी परिमितम् । भीमाभिरक्षितम् (भीमेन अतिचपलबुद्धिना रक्षितम्) एतेषां तु (पाण्डवानां इदम् बलं (सैन्यम्) पर्याप्तम् (परिमितं सप्ताक्षौणीमात्रात्मकत्वात् न्यूनम्) तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यति इत्यभिप्रायः ।

अत्र श्रीधरस्वामिनः यत्कथयन्ति तदपि विचारणीयम् । अपर्याप्तमिति । तत् तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभिरक्षितमप्यस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति । इदं तु एतेषां पाण्डवानां बलं भीमेनाभिरक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं भाति । भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात् अस्मद्बलं पाण्डवसैन्यं प्रत्यसमर्थम् । भीमस्यैकपक्षपातित्वात् । तस्माद्भवद्भिरेवं वर्तितव्यमित्याह ॥१०॥

अन्वयार्थ—अस्माकं (हमारा) तत् (वह) भीष्माभिरक्षितं (भीष्मके द्वारा सुरक्षित) बलं (सैन्य) अपर्याप्तं (अपरिमित) एतेषां (इनका) तु (किन्तु) भीमाभिरक्षितं (भीमके द्वारा सुरक्षित) इदं (यह) बलं (सैन्य) पर्याप्तं (परिमित हैं) ।

सरलार्थ—वीरचूड़ामणि सूक्ष्मबुद्धि भीष्मके द्वारा सुरक्षित एकादश अक्षौहिणी संख्यक हमारा सैन्य शत्रुनाशके लिये अति यथेष्ट है; किन्तु स्थूलबुद्धि भीमके द्वारा सुरक्षित सप्तअक्षौहिणी संख्यक पाण्डवोंका सैन्य हमें जीतनेके लिये बहुत कम हैं ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

प्रथम दुर्योधनने पाण्डवोंकी सेनाका वर्णन किया, तत्पश्चात् अपनी सेनाका वर्णन भी आचार्यको सुनाया । अपने पक्षके योद्धा सब प्रकारसे योग्य एवं प्राणार्पण करके मेरा हित करनेको उद्यत हैं यह कहकर इस दशवें श्लोकमें वह कहता है कि हमारे भीष्म द्वारा अभिरक्षित हमारा सैन्य अपर्याप्त अर्थात् महान् है और भीमके द्वारा अभिरक्षित उनका सैन्य पर्याप्त अर्थात् अल्पसंख्यक है। इस श्लोकके अपर्याप्त तथा पर्याप्त शब्दका भाव टीकाकार गण दो प्रकारका बताया करते हैं । हम दोनों पक्ष बताकर अपना अभिप्राय लिखेंगे ।

अपर्याप्तमित्यादि । तत् तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्माभिरक्षितमपि अस्माकं बलं सैन्यं अपर्याप्तं तैः सह योद्धुं असमर्थं भाति । इदं एतेषां पाण्डवानां बलं भीमाभिरक्षितं सत्पर्याप्तं समर्थं भाति भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात् । अस्मद्बलं पाण्डवसैन्यं प्रत्यसमर्थं भीमस्यैकपक्षपातित्वात् ।

श्रीधरस्वामीका यह मत है । वे दुर्योधनके हृदयका भाव लिखते हुए कहते हैं कि हमारी सेना आपके समान अनेक वीर पुरुषोंसे युक्त है तथा भीष्मजीके द्वारा अभिरक्षित हैं फिर हमारा सैन्य पाण्डवोंके सामने अपर्याप्त अर्थात् उनके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ मालूम होता है । और यह पाण्डवोंका सैन्य भीष्मके द्वारा अभिरक्षित होनेके कारण पर्याप्त अर्थात् समर्थ मालूम होता है । भीष्म दोनोंके पक्षपाती हैं इस लिये हमारा सैन्य पांडव सेनाके सामने असमर्थ हैं कारण उनका सेनाधिपति भीम एकके ही पक्षपाती हैं ।

दुर्योधनके चित्तकी शंका यहां प्रसिद्ध होती है । वह भीष्मके ऊपर सन्देह रखता है और उनको सेनाधिपति बनाकरके भी उनमें विश्वस नहीं रखता । बात भी ठीक है, सेना बड़ी हो; किन्तु सेनाधिपति योग्य न हों अथवा वह एकही पक्षका पूर्ण शुभचिन्तक न हो तो भयका कारण होता है । हमारी सेना भीष्माभिरक्षित होनेके कारण उनके दोषसे कार्यकालमें हमारी सेना विपक्षियोंको पराजित करनेमें असमर्थ होगी ऐसा मालूम पड़ता हैं । और पाण्डव सेना न्यून बल तथा अल्पसंख्यक होते हुए अथच अल्पबुद्धि हठधर्मी भीमके द्वारा परिचालित होनेपर भी भीम एकही पक्षपाती होनेसे तदधीन सेना समरांगणमें कृतकार्यता प्राप्त करेगी यही समझनेमें आता है । युद्धादि कार्यमें एकनिष्ठ लोग ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं ।

श्रीरामानुजाचार्य, हनुमत्स्वामी प्रभृति प्राचीन एवं कई आधुनिक व्याख्याकार इस भावको कहते हैं और भयभीत तथा संदेहावस्थामें दुर्योधनके हृदयका ऐसा भाव हो तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु आनंदगिरि, मधुसूदनसरस्वती, बलदेव विद्याभूषण तथा लोकमान्य तिलक प्रभृतिने जो भाव दुर्योधनके हृदयका इस श्लोकसे समझाया है वह इस प्रकार है ।

राजा पुनरपि स्वकीयभयाभावे हेत्वन्तरमाचार्यं प्रत्यावेदयति अस्माकं खल्विदं एकादशसंख्यकाक्षौहिणी परिगणितमपरिमितं बलं भीष्मेणाच प्रथितमहामहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिना सर्वतो रक्षितं पर्याप्तं परेषां परिभवे समर्थम् । एतेषां पुनस्तदल्पं सप्तसंख्यकाक्षौहिणी परिमितं बलं भीमेन च चपलबुद्धिना कुशलताविकलेन परिपालितमपर्याप्तमस्मानभिभवितुमसमर्थमित्यर्थः । (आनन्दगिरी)

राजा फिर भी अपनी भयरहिततामें दूसरा कारण आचार्यके प्रति कहता हैं। हमारी सेना अपर्याप्त है। हमारी यहां पर जो सेना है वह ग्यारह अक्षौहिणी जितनी अपरिमित महान् हैं और वह सुप्रसिद्ध है महिमा जिनकी और सूक्ष्मबुद्धिवाले पितामह भीष्मके द्वारा अभिरक्षित होनेके कारण पर्याप्त अर्थात् पूर्ण और शत्रुके पराभवमें समर्थ हैं। फिर उनकी सेना अल्प केवल सात अक्षौहिणी जितनी ही है और वह भी चपल बुद्धिवाले, कुशलताहीन भीमके द्वारा पालित पर्याप्त न्यून है। हमारा परिभव करनेमें असमर्थ हैं। हमें ये उभय मत समीचीन मालूम होते हैं। दुर्योधन अभिमानी होनेके कारण अपना गौरवगान कर दूसरेको तुच्छ समझकर अपनी सेनाको महान् और शत्रु सेनाको अल्प कहें यह संभव है, साथ ही उसकी भयभीतावस्था तथा सन्देहवृत्ति और अपनी कमजोरी शत्रुपक्षकी महत्ता निरुपण करें यह भी असंभव नहीं। आनन्दगिरि जो दुर्योधनके अपर्याप्त शब्दका भाव महान्-समर्थ करते हैं वे भी श्रीधरस्वामीके मतको कि हमारी अपेक्षा उनकी सेना पर्याप्त-परिपूर्ण समर्थ है इस प्रकार अथवा कहकर विकल्पमें दूसरे पक्षका आदर करते हैं। अभिमान अविश्वास और भय इस समय दुर्योधनमें मिले होनेके कारण टीकाकारोंकी दोनों कल्पना यथार्थ ही है। फिर भी अभिमानी दुर्योधन यहां अपनी सेनाके वर्णन प्रसंगमें सेनाको सब प्रकार से योग्य, महान् एवं समर्थ अपर्याप्त शब्दसे बता रहा है ऐसा हमें मालूम होता है। अपर्याप्त शब्दका अर्थ है अपरिमित अगणित असंख्य। पर्याप्त शब्दका अर्थ है परिमित। आचार्यको उत्साहित

करनेके उद्देशसे यह कथन है। अपनी सेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी सेना ७ अक्षौहिणी होना यह भी दुर्योधनके अभिमानका कारण है। एक अक्षौहिणी सेनामें २१८७० हाथीके सवार, २८१८७० रथी, ६५६१० घुड़सवार और १०९३५० पैदल सैन्य। ये सब मिलाकर २१८७०० का सैन्य जिसमें हो वह एक अक्षौहिणी। इस प्रकारकी ११ अक्षौहिणी सेना कौरवपक्षमें थी जो कुल २४०५७०० होते हैं और ७ अक्षौहिणी पाण्डव पक्षमें जो कुल १५३०९०० सैनिक होते हैं। महाभारत युद्धके अवसरपर कुरुक्षेत्रमें उभयपक्षके सब मिलाकर ३९३६७०० सैनिक थे उनके सहायकोंकी तथा सेवकोंकी संख्या भी बहुत बड़ी थी जो इससे पृथक् समझनी। इन योद्धाओंमेंसे प्रायः सभी मृत्युशय्याको प्राप्त हुए थे। हाय! दुर्योधनकी राज्यतृष्णा! तूने भारतके इन योद्धाओंका अकालमें संहार कराया था। तेरे ही कारण भारत परपदाक्रान्त हो सब प्रकारसे दीनहीन मलीन बन रहा है। ४० लक्षके जितने इन योद्धाओंका मरण हुआ, यह सुनकर सम्पूर्ण भारतमें हाहाकार मचगया! इन योद्धाओंकी उनसे अधिक पतिव्रता सतीयां इस संसारसे विदा हो गयीं! इन योद्धाओंके मातापिता एवं आत्मीयजनोंने भी अपने देहपरित्याग कर दिये! संरक्षकोंके संहारसे तथा कुलवृद्धोंके मरणसे अवशिष्ट जो स्त्रियां रहीं उनके अन्दर भी दुष्टस्त्रियां हुई प्रजामें सनातनधर्मके ह्रासंसे स्वधर्म पालन न्यून हुआ, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था छिन्नभिन्न हो गयी और आर्यजातिकी जो अवस्था इस समय हम देख रहे हैं उसका मूल कारण दुष्ट दुर्योधनकी धनतृष्णा और उसका

अभिमानादि था। वह नष्ट हुआ; भारतको भी गारत कर गया! ऊपरकी संख्यापर विचार करते हुए हृदय रुदन करता है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

तस्माद्भवद्भिरेवं वर्तितव्यमित्याह। सर्वेषु च (कर्तव्यविशेष-द्योति च शब्दः) अयनेषु (व्यूहप्रवेशमार्गेषु) यथाभागं (विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्य) अवस्थिताः (सन्तः) सर्वं एव हि भवन्तः (भवदादयः) भीष्मं एव (सेनाधिपतिम्) अभिरक्षन्तु (सर्वतो रक्षन्तु यथा अन्यैर्युध्यमानः पृष्ठतः कैश्चिन्न हन्येत तथा रक्षन्तु। भीष्मबले-नैवास्माकं जीवितमिति भावः। अस्य सेनापतेश्चांचल्ये सर्वापि सेना आकुली भवेत् तत्स्थैर्ये स्थिरा च भवेदतः स एव रक्ष्य इत्यर्थः ॥११॥

अन्वयार्थ—सर्वेषु च अयनेषु (व्यूह रचनाके अनुसार अपने सभी स्थानोंमें) यथाभागम् (सैन्यविभागके) अनुसार अवस्थिताः (रहकर) सर्वे एव हि भवन्तः (आप सभी मिलकर) भीष्मम् एव (भीष्मको ही) अभिरक्षन्तु (रक्षा करें)

सरलार्थ—व्यूहरचनामें प्रधान अप्रधानके विचारसे आप सबके ठहरनेके जो स्थान हैं वहां पर अपने अपने विभागके अनुसार ठहरकर आप सब सेनाधिपति भीष्मकी ही रक्षा करें।

श्रीगीतार्थप्रकाश।

दुर्योधनने अचार्यके समीप जाकर सब बातें कही हैं; किन्तु आचार्यने अच्छा बुरा अथवा हां, ना कुछ भी नहीं कहा। दुर्योधन जिज्ञासु शिष्य होकर आचार्यके पास नहीं गया है। शिष्यका धर्म भी उसमें नहीं हैं। वह तो गुरुको क्रोधोदिपन करना, गुरुको गौरव देना, गुरुको द्विजोत्तम कहकर तथा 'भीष्माभिरक्षितम्'

कहकर महाराज ! केवल तुम्हारे बलपर यह युद्धारंभ नहीं किया गया, हमारी सेना स्वयं पूर्ण हैं, इसके सेनाधिपति हमारे पितामह भीष्म है, आपको स्पष्ट निवेदन करता हूं कि भीष्म सेनाकी रक्षा करेंगे आप भीष्मकी रक्षाके लिये ध्यान रखें । पाठक ! यह उसकी खलता नहीं तो क्या है ? क्या यही शिष्यके लक्षण है ? वर्तमानकालमें भी अनेक खल शिष्य गुरुके साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं । अस्तु दुर्योधन इस श्लोकमें आचार्यसे कहता है कि आप एवं समस्त सेनानायक अपने अपने स्थानमें समस्त व्यूहप्रवेशमार्ग पर ठहरकर भीष्मकी ही रक्षा करो !

पाण्डव सेनाकी अपेक्षा तुम्हारी सेना महान् है और तुम्हारी सेनाके अभिरक्षक भी श्रेष्ठ हैं फिर व्यर्थ कल्पनायें क्यों करता है ? मुझे क्या कहना चाहता है ? इस प्रकार गुरुके मनमें विचार आसकता है, इस लिये दुर्योधन स्पष्ट कहता है कि पितामह भीष्म हमारे सेनाधिनायक हैं वे जब युद्धमें अग्रसर होंगे तब आगे पीछे दृष्टि नहीं करेंगे, ऐसे अवसर आप लोग उनकी रक्षाके लिये ध्यान रखें । उनका सामना करके उन्हें कोई मार नहीं सकता । शत्रुओंको सन्मुखमें वे पूर्णरूपसे पहुँच सकते हैं; किन्तु गुप्त रूपसे अन्यान्य दिशाओंसे शत्रु आकर उनपर आक्रमण न कर सके । पितामहके जीवन तक हम निर्भय हैं और उनके जीवनकी रक्षा करना आप लोगोंका प्रधान कर्तव्य है ।

"शिखंडीके सामने मैं शस्त्र न चलाऊँगा" ऐसी भीष्मकी प्रतिज्ञा है और वह आकर अकस्मात् इनका वध न करें अतएव इनकी रक्षा आवश्यक है । महाभारतमें लिखा है—

अरक्ष्यममाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनैव घातयेथाः शिखंडिना ।

यदि यथासमय महाबलवान् सिंहकी रक्षा न की जाय तो वृक भी उसे मार सकता है । शिखंडीरूप जम्बूकके द्वारा भीष्म-रूप सिंहका घात न करना । भीष्मकी रक्षाका भार गुरुके ऊपर रखता है, किन्तु दुर्योधनके दिलमें ऐसे अवसर पर भी दूसरे प्रकारके तर्क हो सकते हैं यह मानकर कोई व्याख्याकार कहते हैं कि हमने इन्हें अपनी सेनाके अध्यक्ष कुलवृद्ध होनेके कारण मर्यादा रक्षार्थ बनाया है; किन्तु इनके कार्य्यके प्रति तथा इनके शरीर प्रति ध्यान रखना ये पाण्डव पक्षपाती होनेके कारण स्वयं बदल न जांय, पाण्डवपक्षमें मिलकर हमारा अथवा हमारी सेनाका नाश न करा दें । यदि ऐसा अवसर उपस्थित हों तो सैन्यसञ्चालन भार आपको लेना होगा, आप तथा सभी सेनानायक हरतरहसे सावधान रहें । इसके मनके भावोंको तथा अपना स्थान छोड़कर तथा अपने पास न आकर दुर्योधन गुरुके पास गया है वहां बातें कर रहा है । क्या मुझमें इसकी श्रद्धा नहीं है? कुछ भी हो, मैंने अबतक अपना कर्तव्य पालन किया है अपने सत्यकी खातिर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके पालनार्थ मैं दुर्योधनका भयनिवृत्त हो, सन्देह निवृत्त हो इसके लिये शीघ्र युद्धारंभ कर दूं । यही विचार करके पितामह भीष्मने युद्धका शंखध्वनिपूर्वक मंगलाचरण किया। भीष्म द्रोणाचार्यके समान सत्यवादी सरल प्रकृतिवाले महापुरुष जो अब तक दुर्योधनको सहायता पहुँचाते आये हैं उनके प्रति भी इसका पूरा विश्वास नहीं है ।

आसुरीसम्पत्तिको लेकर दुर्योधन इस संसारमें आया है और उसके जीवनमें तामसभाव पूर्णमात्रामें देखा जाता है। आचार्यके समीपमें इस समय उसने जो वचन कहे हैं उनमें भी दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान स्पष्ट मालूम होता है। आसुरी पुरुषकी सभी क्रियायें तमोगुण प्रधान रहती हैं। संक्षेपमें हम उसका यहांपर विचार करेंगे।

१ "भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि"। दुर्योधन गुरुसे कहता है कि आप सब भीष्मकी ही सब तरहसे रक्षा करें। एक मात्र भीष्मकी रक्षासे ही सब सुरक्षित रहेंगे, यह उसका तामसज्ञान है। "कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तम्" एक ही कार्यको पूर्ण मानकर उसमें आसक्त रहना इस प्रकारके निश्चयको १८ वें अध्यायमें भगवानने तामसज्ञानका लक्षण समझाते हुए कहा है, तदनुसार " भीष्ममेवाभिरक्षन्तु " यह दुर्योधनका कथन तामस ज्ञान है।

२ " आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् " आचार्यके समीपमें जाकर राजा वचन बोला। इसके वचनोंको आप जान चूके हैं उसके वचन कितने धृष्टता पूर्ण हैं। आचार्यके समीप जाकर प्रणाम करना, तथा विनय पूर्वक बैठकर उनसे उपदेश सुनना चाहिये वह न कर अपनी बातको तथा अपने स्वार्थ एवं भ्रमपूर्ण विचारोंको कहता चला जाता है। यह उसका आचरण "सर्वार्थान् विपरीतान्" "अधर्मं धर्ममन्यते" इत्यादि वाक्यानुसार तामसी बुद्धिको स्पष्ट कर रहे हैं।

३ "बहवः शूरास्त्यक्तजीविताः" यह दुर्योधनका वचन भी उसकी आसुरी-तामसी प्रकृतिको स्पष्ट करता है। ये जीवनकी आशा छोड़कर मेरी सहायता करनेको आये हैं। इसका यह वचन स्पष्ट करता है कि केवल शत्रुपक्ष ही नहीं अपने पक्षके लोग भी मरनेको यहां पर आये हैं। गीतोक्त तामसकर्म इस कर्मारंभकालमें स्पष्ट हुआ उसको भी मिला लीजिये।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते॥

अर्थात् उत्तरकालमें होनेवाले फलका, क्षयका, हिंसाका, पुरुषार्थका विचार किये बिना मोहसे जो कर्म प्रारंभ किया जाता है वह तामस कहा गया है। जो कर्म शुभाशुभ फल, शरीरका सामर्थ्य, धनादिका विनाश दूसरेके और अपने पुरुषार्थका विचार किये बिना जो अनाप सनाथ कर्म किया जाय यानी इसके करने से हमे क्या लाभ होगा? कितनी शक्ति लगेगी? कितने प्राणियोंकी हिंसा होगी? इस कार्य करनेकी हमारे शक्ति है या नहीं? इन सब बातोंको बिना विचारे ही जो कर्म किया जाय वह तामस कर्म है। क्षय तथा हिंसा इस युद्धमें अनिवार्य है 'बहवः शूराः त्यक्तजीविताः' कहता हुआ भी इस युद्धमें दुर्योधनका प्रवृत्त होना उसकी स्वभावसिद्ध आसुरीप्रकृतिका द्योतक है।

आगेके श्लोकमें 'तस्य सञ्जनयन् हर्षम्' ऐसा वाक्य आता है वह भी दुर्योधनके विषादको स्पष्ट करता है। कार्यारंभमें विषाद करनेवाला तामसकर्ता है। 'विषादी दीर्घसूत्रीच कर्ता तामस उच्यते।' एक बात और भी यहां पर ध्यानमें रखने योग्य कहते हैं।

दुर्योधनके लिये सञ्जय दूसरे श्लोकमें 'दृष्ट्वा' शब्दका प्रयोग करता है। पाण्डवोंकी सेनाको देखते ही वह गुरुके पास गया है और मनमें आया सो बोलने लगा है। ऊधर अर्जुनके लिये २७ वें श्लोकमें 'समीक्ष्य' शब्दका प्रयोग करेगा। सम्यक् ईक्ष्य-समीक्ष्य। अर्जुनको गंभीरता और दुर्योधनकी चंचलता 'द्रष्ट्वा' और 'समीक्ष्य' शब्दसे सञ्जय धृतराष्ट्रको बतलाता है।

दुर्योधनका जीवन तमः प्रधान है उसके जीवनमें तमोगुण ओतप्रोत है हम इस प्रकारके उसके जीवन पर विचार करनेके समय अपने जीवन पर भी दृष्टि कर हम ऐसी तामस प्रवृत्तिमें न पड़ें। वर्तमानकालके अनेक लोग नेतागिरीकी बीमारीमें फंसकर धर्म, जाति और देशका सत्यानाश कर रहे हैं। राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक उन्नतिके विषयमें सात्विक भावसे विचार किये विना अनेक सज्जन नविन प्रयोग प्रजाके सामने उपस्थित करते हैं और उसकी पूर्तिके लिये आंदोलन करते हैं। नउको चाहिये कि गीताके उपदेशानुसार सात्विकी बुद्धिसे विचार करके तथा अनेक सात्विक पुरुषोंके साथ परामर्श करके अवस्था तथा समयादि देखकर कर्ममें प्रवृत्त हों।

अवस्थानुगता चेष्टा समयानुगताः क्रियाः।
तस्मादवस्थां समयं वीक्ष्य कर्म समाचरेत्॥

अर्जुनके 'समीक्ष्य' और दुर्योधनके 'दृष्ट्वा' शब्द पर विचार कर स्वयं भी विचारवान बनें हम धर्मको और भगवानको सन्मुख रखकर सब प्रकारके कार्योंमें प्रवृत्त हों। अस्तु दुर्योधनको ऐसा तामस जानकरके भी भीष्म अपना कर्तव्य पालन करते हैं। उनकी चेष्टाको देखिये वे क्या कर रहे हैं?

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।१२।

तदेवं बहुमानयुक्तं राजा दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भीष्मः किं कृतवाँस्तदाह तस्य (आचार्यं प्रति संवादं कुर्वतः दुर्योधनस्य) हर्षम् (बुद्धिगतमुल्लासविशेषं, युद्धोत्साहम्) संजनयन् (सम्यक् उत्पादयन् भयं तदीयमपनिनीषुः) प्रतापवान् (स्वयं उत्साहवान्) कुरुवृद्धः कौरवसैन्येषु वृद्धः) पितामहः (भीष्मः) उच्चैः (महान्तम्) सिंहनादं विनद्य (सिंह इव विनद्य) शंखं दध्मौ (वादितवान्)

स्वस्य कुरुवृद्धत्वात् तस्य कुरुराजत्वात् पितामहत्वाच्चास्य दुर्योधनभयापनयनार्थाप्रवृत्तिरुचिता तदुपजिवितया तद्वशत्वाच्च । तस्य सिंहनादे शंखशब्दे च परेषां हृदयव्यथा संभाव्यते । दूरादेवारिनिवहं प्रति भयजननलक्षणप्रतापत्वादित्यर्थः ।

अन्वयार्थ—प्रतापवान् (महाप्रतापशाली) कुरुवृद्धः (वृद्ध कौरव) पितामहः (भीष्मदेवने) तस्य (दुर्योधनके) हर्षं (उत्साह और उल्लासको) सञ्जनयन् (उत्पन्न करते हुए) उच्चैः (उच्च शब्दसे) सिंहनादं विनद्य (सिंहनाद करके) शङ्खं दध्मौ (शंख-बजाया) ।

सरलार्थ—प्रताप शाली कुरुवृद्ध पितामह भीष्मदेवने दुर्योधन के चित्तमें हर्ष तथा उत्साह उत्पादन करनेके निमित्त उच्च स्वर से सिंहनाद करके शङ्ख बजाया । (शंखध्वनि मांगलिक है । हमारे देशमें शंखध्वनि शुभ कार्यमें की जाती थी । अब इस समय केवल देवमन्दिरोंमें ही शंखनाद होता है ।)

श्रीगीतार्थप्रकाश।

राजा दुर्योधनके हृदयकी ओर तथा उसके व्यवहारकी ओर दृष्टिपात न कर पितामह भीष्म अपने सत्य-वचनकी रक्षार्थ अपना कर्तव्य पालन करनेको उद्यत हुए। दुर्योधन भयभीत है, अविवेकी हैं; किन्तु परोक्षमें भीष्मजीके लिये उनकी रक्षाके लिये कुछ कह रहा हैं। चाहे वह कुछ भी कहें तथा करे हमें सामयिक कर्तव्यका पालन करना उचित है यह समझकर पितामह भीष्मने दुर्योधनको हर्ष-उत्साह उत्पन्न करनेवाला शंखध्वनि सिंहगर्जना पूर्वक किया। पाण्डव सेना तथा उसकी रचना देखकर दुर्योधन भयभीत हो द्रोणाचार्यके समीप गया है। द्रोणाचार्य भी उसकी कापट्यपूर्ण भक्तिको जानकर कुछ भी नहीं बोले, उन्होंने इसकी उपेक्षा की है और दुर्योधन विषादमें पड़ रहा है यह सब जानकर भीष्मने विचार किया कि हमनें प्रथम सत्यवतीके पिताको अपने पिताके विवाह निमित्त वचन दिया है कि हम राज्यके पक्षपाती रहेंगे, साथ ही अबतक हमारा शरीर निर्वाह इसीके अन्नादिसे हो रहा हैं इस लिये इस महासमरमें इसके लिये देहपात करना ही उचित हैं अतएव दुर्योधनको हर्षोत्साह युक्त करनेके निमित्त भीष्मने सिंहनाद और शंखध्वनि किया। वृद्धगण अनायास बालकोंके मनोभावको समझ सकते हैं यह दिखानेके लिये मूलमें 'कुरुवृद्ध' शब्द प्रयोग है। द्रोणाचार्यने दुर्योधनकी उपेक्षा की; किन्तु आत्मीयजन महादुरात्मा होते हुए भी आपत्कालमें उपेक्षा योग्य नहीं इस लिये मूलमें 'पितामह' शब्द प्रयोग हैं और भीष्मके उच्च सिंहनाद तथा शंखध्वनिसे पाण्डव सेना चमकित हुई है इस लिये

मूलमें 'प्रतापवान्' शब्द प्रयुक्त है। भीष्मके ये तीनों विशेषण यहां पर यथार्थ है ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।१३।

ततः (सेनापतेः भीष्मस्य) युद्धोत्सवमालोक्य शंखाश्च भेर्यश्च पणवाः (मर्द्दलाः) आनकाः (पटहाः) गोमुखाः (वाद्यविशेषाः) सहसा एव तत्क्षणादेव अभ्यहन्यन्त (वादिताः) स शब्दः (शंखादि शब्दः) तुमुलः (एकाकारतया महान्) अभवत् (आसीत्) ॥१३॥

अन्वयार्थ—ततः (भीष्मदेवके शंख बजानेके अनन्तर) शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः (शङ्ख, भेरी, पणव, आनक गोमुख आदि युद्धके सब बाजे) सहसा एव (अकस्मात् एकही साथ) अभ्यहन्यन्त (बजायेगये) सः शब्दः (वह बाजेका शब्द) तुमुलः (प्रचण्ड) अभवत् (हुआ) ॥१३॥

सरलार्थ—महावीर भीष्मके इस प्रकार उत्साह दिलाने पर कौरव सैन्यमें भी शङ्ख, भेरी, पणव, आनक तथा गोमुखादि रण-वाद्य एकदम बजने लगे, जिससे प्रचण्ड शब्द हुआ।

श्रीगीतार्थप्रकाश।

कौरवोंके सेनाधिपति भीष्मका ऐसा युद्धके लिये उत्साह देखकर सभी योद्धा उत्साहित हुए कौरवपक्षके योद्धा विचारते हैं कि इच्छामृत्यु भीष्म इस महारणमें अग्रेसर हैं फिर हमें भय किसका है? भीष्म किसीके द्वारा सहज वध्य नहीं। जब तक भीष्म हमारे सेनाधिपति हैं तब तक हमें पराभव होनेका भय नहीं

इसीसे तो सभीने अपने अपने रणवाद्य एक साथ बजाये जिसका महान् शब्द एकाकार होकर चारों ओर फैल गया । भीष्मके उत्साहको देखकर सभी योद्धा रणोन्मत्त हो गये ! चारों तरफ रणवाद्य बजने लगे ! रणभूमि उस तुमुल शब्दसे परिपूर्ण हो गयी ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।१४।

ततः पाण्डवसैन्ये प्रवृत्तं युद्धोत्सवं आह । ततः । (तं घोषं आकर्ण्य-कौरवसैन्यवाद्यकोलाहलानन्तरम् ।) श्वेतैः हयैः युक्ते (अतिबलपराक्रमैर्युक्ते) महति स्यन्दने (अग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे) स्थितौ (व्यवस्थितौ) माधवः पाण्डवः च एव (कृष्णार्जुनौ) दिव्यौ शंखौ (अप्राकृतौ पाञ्चजन्यदेवदत्तौ) प्रदध्मतुः (प्रकर्षेण दध्मतुः वादयामासतुः) ।

अन्वयार्थ—ततः (इसके अनन्तर) श्वेतैः हयैःयुक्ते (सफेद घोड़ो के द्वारा युक्त) महति स्यन्दने स्थितौ (महान् रथपर बैठे हुए) माधवः पांडवः च एव (कृष्ण और अर्जुनने) दिव्यौ शङ्खौ (अलौकिक शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (उच्चध्वनिसे बजाया) ।

सरलार्थ—कौरव सैन्यके रणवाद्य बजनेके बाद अग्निदत्त महानश्वेताश्वयुक्त रथपर अवस्थित श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने अपने दिव्यशङ्खोंको विपुल शब्दसे बजाया ॥१४॥

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

कौरव पक्षकी सेनाके रणवाद्यको सुनकर पाण्डव सेनाके योद्धाओंने भी अपने रणवाद्य बजाये । प्रथम भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके शंखध्वनिका वर्णन किया जाता है । यद्यपि पांडव

पक्षमें अनेक योद्धा रथारूढ़ हैं; किन्तु अर्जुनके रथका निर्देश यहां क्यों किया गया ? 'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।' इसका कारण यह है कि अर्जुनका रथ साधारण रथ नहीं है। वह सक्षात् हुताशन-अग्निका दिया हुआ रथ है। इस रथको चलानेका सामर्थ्य किसी शत्रुपक्षके मनुष्यको नहीं अर्जुनको प्राप्त यह दिव्यरथ अर्जुनके लिये ही उपयोगी है। इस रथमें बिराजमान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन किसी शक्तिके द्वारा पराभव नहीं पा सकते। भगवान् श्रीकृष्णने तथा अर्जुनने अपने दिव्य शंख बजाये जिसको सुनकर कौरव सैन्य कंपित हो गया! यहां पर एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि प्रथम कौरव सैन्यसे शंख ध्वनि हुई तत्पश्चात् पाण्डव सैन्यसे। इस परसे भी स्पष्ट होता है कि अभी भी पाण्डव द्रोहाचरणमें प्रवृत्त होना नहीं चाहते! परस्वापहारी कौरव यहां पर भी प्रथम युद्धारंभ करनेके अपराधी हैं। दुष्ट दुर्योधनका पक्ष ही भारतीय वीरगणके शोणितसे पृथ्वीको कलंकित करनेको तथा अशान्तिके अपराधीरूपसे इतिहासमें अपना नाम लिखानेको उद्यत हुआ हैं। पाण्डव शान्ति चाहते हैं, पाण्डव न्याय चाहते हैं, पाण्डव अपने पूर्व वचनकी खातिर अब तक सब प्रकारसे शान्ति रख रहे हैं, आपसमें युद्ध न हो इसके लिये पाण्डवोंने बहुत कुछ धैर्य धारण किया; किन्तु जब कौरव किसी प्रकार न समझे तब वे अवश्य आत्मरक्षार्थ युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं। जो धर्मके अनुयायी हैं, जो भगवानके भक्त हैं वे कभी भी दूसरेकी हिंसा नहीं करते। दूसरेकी संपत्ति अपनी बनाना नहीं चाहते। पाण्डव धर्मानुयायी हैं, कृष्णानुयायी हैं।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

हृषीकेशः (हृषीकाणां ईशः सर्वेन्द्रियप्रवर्तकः श्रीकृष्णः) पाञ्च-जन्यम् । धनञ्जयः (दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवान् इति सर्वथा एव अयं अजेयः) देवदत्तम् । वृकोदरः (बह्वन्नपाकात् अति बलिष्ठो भीमसेनः) महाशंखम् पौण्ड्रम् दध्मौ । कुन्तीपुत्रः (कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः स्वयञ्च राजसूययाजि-त्वेन मुख्यो) राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयम् । नकुलः सुघोषम् । सहदेवश्च मणिपुष्पकम् (शंखं दध्मौ) परमेश्वासः (परमः श्रेष्ठः ईष्वासो धनुर्यस्य महाधनुर्द्धरः) काश्यः (काशीराजश्च) महारथः शिखण्डी च धृष्टद्युम्नः विराटश्च अपराजितः (केनापि पराजेतुं अशक्यत्वात्) सात्यकिश्च द्रुपदः द्रौपदेयाश्च महाबाहुः सौभद्रश्च पृथिवीपते (हे धृतराष्ट्र !) सर्वशः पृथक् पृथक् शंखान् दध्मुः ॥१५-१६-१७-१८ ॥

अन्वयार्थ—हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) पाञ्चजन्यं (पाञ्चजन्य नामक शङ्खको) धनञ्जयः (अर्जुन) देवदत्तं (देवदत्तनामक शङ्खको) भीमकर्मा (शत्रुओंके भयजनक कर्म करनेवाले) वृको-दरः (भीम) महाशंखं पौण्ड्रं (पौण्ड्रनामक महाशङ्खको) कुन्ती पुत्रः राजा युधिष्ठिरः (कुन्तीतनय धर्मराज युधिष्ठिर) अनन्त विजयम् (अनन्तविजय नामक शङ्खको) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेव) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष और मणिपुष्पकनामक शंखको) दध्मौ (प्रत्येकने अपने अपने शंखको बजाया) पर-मेष्वासः (उत्तम धनुष धारण करनेवाले) काश्यः च (काशीराज भी) महारथः शिखण्डी च (महारथ शिखण्डी भी) धृष्टद्युम्नः विराटः च (धृष्टद्युम्न और बिराट भी) अपराजितः सात्यकिः च (अजेय सात्यकि भी) द्रुपदः द्रौपदेयाः च (द्रुपद और द्रौपदी-तनयगण भी) महाबाहुः सौभद्रः च (शक्तिशाली भुजावाले अभि-मन्यु भी) हे पृथिवीपते ! (हे धृतराष्ट्र !) सर्वशः पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः (सबने अलग अलग शंख बजाये) ।

सरलार्थ—श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुनने देव-दत्त नामक शंख और भीमकर्मा भीमने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया । कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक, नकुल ने सुघोष नामक और सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया । इसी प्रकार महाधनुर्धर काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपदराजा, द्रौपदीके पुत्रगण और महा-बाहु, अभिमन्यु, हेराजन् ! इन सभीने पृथक् पृथक् अपना अपना शङ्ख बजाया ।

श्रीगीतार्थप्रकाश।

कौरवोंके साथ युद्ध करना न पड़े इसके लिये पाण्डवोंने अबतक अनेक प्रयत्न किये, अनेक कष्ट तथा अपमान सह करके भी वे शान्त रहे; किन्तु जब उनकी शान्तिका भाव तथा महत्व कौरव न समझे, भक्तवर विदूरजी और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके उपदेशको भी कौरवोंने नहीं ग्रहण किया तब सदैवकी अशान्ति मिटानेके लिये इस युद्धमें पाण्डवोंको प्रवृत्त होना पड़ा, शान्तिकी भी हद होती है, भगवानने तथा पाण्डवोंने शान्ति चाही थी; किन्तु अशान्तिप्रिय कलहकारी दुष्ट शान्ति नहीं चाहते तो उनका शान्तिका उपाय है, उचित दण्ड। भगवान् तथा भगवानके भक्त पाण्डव युद्धभूमिमें आकरके भी शान्त हैं, सब तैयारी करके भी सन्धिकी आशा रखते हैं, दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके पास गया है, कदापि उन गुरु शिष्यके विचार विनिमयसे कोई सन्धिका प्रस्ताव उपस्थित हो जाय तो अच्छा है; किन्तु दुर्योधनका वाग्विन्यास देखकर तथा उसके सेनाधिपतिके शङ्खध्वनिके साथ कौरव सैन्यके युद्धवाद्य सुनकर पाण्डव हमेशकी सन्धिकी आशा छोड़कर युद्धके लिये सन्नद्ध होगये। भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनने अपने शङ्खोंकी ध्वनि की।

भगवान् श्रीकृष्णका यहाँपर मूलमें हृषीकेश नाम दिया गया है। हृषीकेश शब्दका अर्थ यहाँ पर विचारने योग्य है। हृषीक अर्थात् इन्द्रिय = ईश अर्थात् नियन्ता। इन्द्रियोंके नियन्ताका नाम हृषीकेश हैं। भगवान्, श्रीकृष्णही सर्वेन्द्रिय प्रवर्त्तक

है। सर्वात्मा भगवानके इङ्गित करनेसे इन्द्रियाँ अपने कार्यमें प्रवृत्त हो सकती हैं। जीव कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे कार्य करता है। जीवका संकल्प हो, इन्द्रियाँ भोगादि चाहती हों; किन्तु इन्द्रियोंमें कार्य सम्पादन करनेकी शक्ति न हो तो वह बीचारी क्या कर सकती हैं? भगवान् ही सर्वेन्द्रिय प्रवर्तक हैं, भगवान् हृषीकेश हैं। भगवान् भक्तोंके पक्षमें शक्तिसंचालना करेंगे, अभक्तके पक्षमें कितनेही वीर क्यों न हों उनकी इन्द्रियों में सत्सामर्थ्य विधान कौन करेगा? जिससे अभक्तोंका पराभव अवश्य होगा। इससे आध्यात्मिक महत्त्वका आभास मिलता है। पञ्चेन्द्रियरूपी पाँच पाण्डव जब अन्तर्यामी विशुद्ध आत्मा-रूप श्रीकृष्णकी प्रेरणानुसार कार्य करेंगे तब दुष्प्रवृत्तिराशिरूप दुर्योधनका दुष्ट दलबल त्रस्त एवं पराजित होगा इसमें आश्चर्य नहीं। हृषीकेश भगवानने पाण्डवपक्षमें शक्तिसंचार करनेके लिये तथा कौरवपक्षकी शक्तिका संहार करनेके लिये अपना पाञ्च-जन्य नामक शंख बजाया। भगवान् श्रीकृष्ण संदिपनी गुरुके मृतपुत्रोंको लानेको प्रभासक्षेत्र समीप समुद्रमें प्रविष्ट हुए थे। वहाँ पञ्चजन नामक समुद्रवासी दैत्यका बध करके उसके अस्थिसे इस शंखको प्रस्तुत किया था। पञ्चजनसे उत्पन्न होनेके कारण इस शंखका नाम पाञ्चजन्य विख्यात हुआ।

मूलमें यहाँपर अर्जुनका धनंजय नाम देनेमें अभिप्राय यह है कि जिस वीर पुरुषने अपने बाहुबलसे सब दिशाओंको जीत कर समस्त धनाधिपतियोंसे धन ग्रहण किया था और जिसके हाथमें देवताओंका दिया हुआ विजयशंख विराजमान हैं उसका

इस संग्राममें पराजय करनेका सामर्थ्य किसमें है ? वृकके समान बहुभोजी, हिडम्बदैत्यका संहारक महाबलवान् भीमसेन भी परम पराक्रमी हैं। सञ्जय यहाँपर संकेत करता है कि हे धृतराष्ट्र ! इन्द्रियोंके अधिनायक भगवान् हृषीकेश श्रीकृष्ण जिस सेनामें प्रधान नेता, विश्वविजयी वीर अर्जुन जिसमें प्रधान योद्धा और भीम पराक्रम वृकोदर जिसका संरक्षक उस पाण्डव सेनाको तुम्हारे पुत्र किस प्रकार पराजित कर सकेंगे ?

सञ्जय धृतराष्ट्रको कहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के शंखध्वनिको सुनकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी अपना अनन्तविजय नामक शंख बजाया। यहाँ पर युधिष्ठिरके लिये कुन्तीपुत्र, युधिष्ठिर और राजा तीन नाम क्यों दिये गये हैं ? इसका आशय इस प्रकार है।

सतिशिरोमणि कुन्ताजीने कठिन तपस्याके द्वारा धर्मराजकी आराधना कर युधिष्ठिर पुत्र प्राप्त किया है। युधिष्ठिरका जीवन धर्ममय था वे सत्यको और धैर्यकी साक्षात् प्रतिमारूप थे, युधिष्ठिर परमतेजस्वी थे, राजसूय यज्ञके अवसर पर तथा अन्य अनेक अवसर पर उनकी उदारताका परिचय मिला है। यह राजा है। "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" प्रजाको राजी रखनेवाला राजा कहा जाता है। केवल राजनीतिमें कुशल होनेसे ही कोई राजा नहीं कहा जाता, राजनीतिके साथ धर्मनीति भी राजामें चाहिये। युधिष्ठिरके अनेक गुणोंका स्मरण करानेके लिये यहाँपर राजा, कुन्तीपुत्र और युधिष्ठिर ये तीन शब्द प्रयुक्त है। जो युद्धमें जयरूप फलका भागी होकर अटल अर्थात् स्थिर रहे वह युधिष्ठिर

कहा जाता है। जयश्री युधिष्ठिरका ही आश्रय करेगी ऐसा सञ्जयने इन पदप्रयोगके द्वारा धृतराष्ट्रको समझाया है, पाञ्चजन्य देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष, मणिपुष्पक, ये छ शंख अपने अपने नामानुसार सुप्रसिद्ध हैं। जैसे शंख पाण्डवोंके पास हैं वैसा कौरवोंके पास एक भी शंखनहीं हैं, दक्षिणावर्त, दिव्य शंख पाण्डवोंको प्राप्त हैं इस बातको कहनेमें पाण्डवपक्षकी उत्तमता और कौरवपक्षकी हीनता सञ्जयने प्रदर्शित की है।

धृतराष्ट्र मनही मन अपने पुत्रोंकी जयाशाकी कल्पना कर रहा था, उसे कुशलता पूर्वक निवृत्त करनेके लिये सञ्जय कहता है कि हे राजन्! ये कईएक महारथी ही नहीं हैं, अन्य भी अनेक महाधनुर्धारी महारथी पाण्डव सेनाके योद्धाओंने उत्साहपूर्वक अपने अपने शंख बजाये ॥ १५, १६, १७, १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

स च शङ्खानां नादस्त्वदीयानां महाभयं जनयामासेत्याह। तुमुलः (अतिभैरवः) स घोषः (शङ्खध्वनिः पाण्डवैः कृतः शंखनादः) नभ च (अन्तरीक्षं च) पृथिवीं च एव (भुवनं लोकत्रयं सर्वमेव) अभ्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिभिरापूयन्) धार्तराष्ट्राणाम् (दुर्योधनप्रमुखानां भवत्पुत्राणाम्) हृदयानि (अन्तःकरणानि-मनांसि वक्षांसि च) व्यदारयत् (बिभेद-हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवान्।)

अत्रानन्दगिरिः—"तुमुलो व्यनुनादयन्" इति पाठान्तरम्। तथात्वे विशेषेण अनुक्रमेण नादयन् नादयुक्तं कुर्वन् इति तस्यार्थः॥

अन्वयार्थ–तुमुलः (प्रचण्ड) स घोषः (पाण्डवोंकी शङ्ख ध्वनिने) नभः च (आकाशको) पृथिवी च एव (और पृथ्वी को) अभ्यनुनादयन् (प्रतिध्वनिके द्वारा पूर्ण करके) धार्त्तराष्ट्राणां (आपके पुत्रगण तथा आपके पक्ष वाले सैन्योंके) हृदयानि व्यदारयत् (हृदयको वीदीर्ण जैसा कर दिया) ॥ १९ ॥

सरलार्थ–सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा अति प्रचण्ड पाण्डव वीरोंकी शंखध्वनिके द्वारा आकाश तथा मेदिनी गूँज उठी, और आपके पुत्र तथा सैन्योंके चित्तमें हृदय विदारण तूल्य भय और व्यथा उत्पन्न होगयी ॥ १९ ॥

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

कौरवदलके शंखनादसे पाण्डवसेना कुछ भी विक्षुब्ध नहीं हुई और पाण्डवसेनाके शंखध्वनिसे कौरवोंकी सेना भयभीत, चकित एवं कम्पित होगयी । इससे कुरुदलकी दुर्बलता और पाण्डवपक्षके हृदयकी तेजस्विता स्पष्ट मालूम होती हैं । जिनका धर्मका और न्यायका पक्ष है उनको जैसा धैर्य, जैसा बल, जैसा तेज इत्यादि रहता है, वैसा अधर्मी और अन्यायीजनोंके हृदयमें नहीं । कौरव परस्वापहारी हैं, कौरव अन्यायो हैं, इनको पदे पदे भय तथा शङ्का रहा करते हैं, "पापः सदा शङ्कते ।" मनुष्य नहीं डरता है, मनुष्यका पाप डरता है । कौरवोंका हृदय दुर्बल होनेसे उसके पक्षपर पाण्डवोंके शङ्खध्वनिकी असर हुई और वे कंपने लगे हैं यह उनके पराजयका लक्षण हैं । "प्रथमग्रासे मक्षिका पातः" इसीको कहते हैं ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

महीपते (हे धृतराष्ट्र!) अथ (रिपुशङ्खनादकृतोत्साहभङ्गानन्तरम्) धार्तराष्ट्रान् (भीष्मादीन्) व्यवस्थितान् (युयुत्सया अवस्थितान् युद्धोद्योगे अवस्थितान्) दृष्ट्वा कपिध्वजः पाण्डवः (हनुमता महावीरेण ध्वजमधिष्ठितानुगृहीतो भयगन्धशून्यः अर्जुनः) तदा (तत्काले) शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (शस्त्राणां इषुप्रासप्रभृतीनां संपाते प्रवर्त्तमाने सति) धनुः उद्यम्य (युद्धाय गाण्डीवं मुत्तोल्य हृषीकेशम् (इन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णम्) इदं (वक्ष्यमाणं) वाक्यम् आह (उक्तवान्)॥ २०॥

अन्वयार्थ—हे महीपते! (हे महाराज धृतराष्ट्र!) अथ (भयजनक शङ्खघोषके अनन्तर) कपिध्वजः पाण्डवः (महावीर हनुमानकी मूर्ति जिनकी रथ ध्वजामें है ऐसे अर्जुनने) धार्त्तराष्ट्रान् (कौरवोंको) व्यवस्थितान् (युद्ध करनेके लिये सुसज्जित) दृष्ट्वा (देखकर) शस्त्रसम्पाते (शस्त्र समूहके) प्रवृत्ते (चलानेकी तैय्यारी होनेपर) धनुः उद्यम्य (अपने गाण्डीवको उठाकर) तदा (उस समय) हृषीकेशं इदं वाक्यं आह (श्रीकृष्णको आगे वर्णित वाक्य कहा)॥ २०॥

सरलार्थ—हे महाराज! विपुल शंखनादसे हृदयमें अतिक्षोभ तथा भय होनेपर भी जब कपिध्वज अर्जुनने देखा कि कौरवगण युद्धके निमित्त ही उद्यत हुये हैं और शस्त्र चलानेकी तैय्यारी भी

होगयी है, तो उन्होंने भी अपने गाण्डीवमें शरसन्धान करते हुए भगवान् श्रीकृष्णको निम्नलिखित वाक्य कहा ॥ १९ ॥

श्रीगीतार्थप्रकाश।

पाण्डवपक्षके अग्रेसरोंके तथा योद्धाओंके शंखनादको सुनकर कौरव सैन्य भयभीत एवं कम्पित होगया; किन्तु दुर्बुद्धिके कारण स्पर्धा सहित युद्धार्थ उपस्थित रहे। यह देखकर अर्जुनको अपना धनुष्य हाथमें धारण करना पड़ा। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके परमभक्त हनुमानजी—जिनकी सहायतासे प्रभुने रावणवंशका संहार किया था। वे ही रुद्रावतार हनुमानजी अर्जुनके रथध्वज पर विराजमान हो रहे हैं। सर्वेन्द्रिय प्रवर्तक हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मन्त्रणा देनेवाले सारथी बनकर समीपमें विराजमान हैं, जिनकी सहायता और उपदेशानुसार अर्जुन सबकुछ करनेको उद्यत हैं वे समरमें अर्जुनके सहायक हैं यह संकेत करके हे महिपते! इस पदके द्वारा सञ्जय स्पष्ट करता है कि कौरवोंने अत्यन्त अविचार पूर्वक पाण्डवोंका राज्य अपहरण कर सर्वथा राजनीतिके विरुद्ध कर्म किया है। तुम्हारे पुत्रोंने अपना नाश अपनी दुर्बुद्धिसे करना चाहा है। नीतिमें ठीक कहा है कि—

अनुचितकर्मारम्भो, स्वजनविरोधो बलियसी स्पर्धा।
प्रमदाजनविश्वासो, मृत्युद्वाराणि चत्वारी॥

अनुचित कर्मका आरम्भ, स्वजनोंके साथ विरोध, बलवानके साथ स्पर्धा और प्रमदाजनका विश्वास ये चार मृत्युके द्वार—

कारण हैं। इनमेंसे मृत्युके तीन कारण तो कौरवोंमें स्पष्ट ही हैं। पाण्डव राजनीति परायण एवं धर्मात्मा है जय पाण्डवोंका अवश्य होगा। कौरवोंके शस्त्र उठाते ही अर्जुनने धनुष्य धारण कर भगवानके प्रति निम्न वाक्य कहे। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका यह वाक्य कहना प्रथम असंगत जैसा मालूम होता है, भगवानकी आज्ञा जानकर तदनुसार कार्य करना भक्तका धर्म है न कि भगवानको स्वयं कुछ कहना। इस प्रकारकी कल्पना करनेके समय हमें यह भी मालूम होता है कि भगवानके अधीन जो भक्त हैं भगवान् उन भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। भगवान् भक्तवत्सल हैं, भगवान् भक्ताधीन है "अहं भक्तः पराधीनः" ऐसा भगवान्का वचन है। अनेक प्रसङ्ग पर भगवानने भक्तों का भक्त बनकर भक्तोंकी सेवा सुश्रुषा करके भक्ताधीनता प्रदर्शित की है यहाँ पर भी मैं भक्तके अधीन हूँ यह बताने के उद्‌देश्यसे अर्जुनको प्रेरणा करके अपने प्रति आज्ञा वचन कहलाये हैं।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

तदेवगाण्डिवधन्विनो वाक्यमुनक्रमति। अर्जुन उवाच--हे अच्युत! अस्मिन् रणसमुद्यमे (बन्धूनामेवं परस्परं युद्धोद्योगे) कैः सह मया योद्धव्यम् (के वा मां जेतुं यतन्ते मया वा के जेतव्या) योद्धुकामान् (नतु अस्माभिः सह सन्धिकामान्) अवस्थितान् (न तु भयात् प्रचलितान्) एतान् (प्रतिपक्षत्वेन प्रतिष्ठितान् भीष्मद्रोणादीन्) अहम् निरीक्षे (निरीक्षुतुम् अहं क्षमः स्याम्) उभयोः सेनयोः (स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः सन्निहितयोः) मध्ये मे (मम) रथं स्थापय दुर्बुद्धेः (स्वरक्षणोपायमजानतः कुधियः) धार्तराष्ट्रस्य (दुर्योधनस्य) युद्धे (युद्धभूमौ स्थित्वा) प्रियचिकीर्षवः (प्रियं कर्तुमिच्छवः) ये (केचित्) एते (राजानः) अत्र (कुरुक्षेत्रे) समागताः। तान् योत्स्यमानान् (न तु शान्तिकामान् यावत् अहम् अवेक्षे (द्रक्ष्यामि तावत् उभयोः सेनयोः मध्ये) मे रथं स्थापय (यतो मद्युद्धप्रतियोगिनिरीक्षणं युक्तमिति)

अत्रानन्दगिरिः—उभयोरपि सेनयोः सन्निहितयोर्मध्ये मदीयं रथं स्थापयेत्यर्जुनेन सारथ्ये सर्वेश्वरो नियुज्यते किं हि भक्तानाम शक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठति। युक्तं हि भगवतो भक्तपारवश्यम्। अच्युतेति सम्बन्धनतया भगवतः स्वरूपं न कदाचिदपि प्रच्युतिं प्राप्नोतीत्युच्यते॥ २१-२२-२३॥

अन्वयाथ-हे अच्युत! (हे कृष्ण) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) मे रथं स्थापय (मेरे रथको रक्खो) अहं (मैं) एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् (इन सब युद्धकी इच्छासे अवस्थित कौरवोंको) यावत् (जबतक) निरीक्षे (देखूँ) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्ध व्यापारमें) कैः सह (किन किन

के साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे लड़ना होगा) अत्रयुद्धे (इस कुरुक्षेत्रके युद्धमें) दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य (दुष्टबुद्धि दुर्योधनके) प्रियचिकीर्षवः (प्रियकरणेच्छु) ये एते (जो योद्धागण) समागताः (एकत्रित हुए हैं) योत्स्यमानान् (युद्ध करनेवाले उनको भो) अवेक्षे (मैं देखूँ) ।

सरलार्थ—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण ! दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको रक्खो, मैं युद्धकी इच्छासे अवस्थित इन सबको जब तक देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किनके साथ युद्ध करना है। और मुझे उन लोगोंको भी देखना है जो दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्रिय करनेकी इच्छासे यहाँपर लड़ने आये हैं।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अर्जुन कहता है हे अच्युत ! मेरा रथ उभय सेनाओंके मध्यमें स्थापित करो। यहाँ पर अच्युत शब्द प्रयोग करनेसे अर्जुनके अन्तःकरणका यह आशय है कि आप सबके नियामक एवं आज्ञा देनेवाले हैं आपको मैं आज्ञा देने योग्य नहीं हूँ फिर भी आप मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे न विकारको प्राप्त होंगे और न इसमें आपकी महत्ता क्षीण हो जायगी। आप अच्युत हैं, सब कुछ करते हुए भी आप स्व-स्वरूपमें स्वमहिमामें न्यूनताको नहीं प्राप्त होते हैं। भगवान् अविकारी हैं, भगवान् आनन्दमय हैं, भगवान् रसमय हैं, भगवान् सृष्टि लीलामें तथा अवतार लीलामें विविधाकार बनते हैं। विविध क्रियायें करते हैं; किन्तु अपने मूलस्वरूपमें ही स्थित

होकर। ब्रह्म सर्वभवन सामर्थ्ययुक्त हैं, ब्रह्मसर्वविरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं, भगवान्के अच्युत सम्बोधनका आश्रय स्पष्ट है कि मैं आपसे कोई प्रार्थना करूँ तो आप अच्युत होनेसे अनुचित न मानेंगे, और आपकी जो महत्ता हैं वह भी मिट नहीं सकती। जिसकी च्युति अथवा जिसको विकार नहीं ऐसे आप होनेसे आप अच्युत हैं। अच्युत सम्बोधनका यह भी भाव हैं कि अब आप इस हमारी सहायतारूप कार्यसे च्युत-चलित न होंगे और पाण्डवोंको भी च्युत न होने देंगे। मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं कि रणक्षेत्रमें अविचल भावसे रहना यह सारथीका प्रधानगुण है। आनन्दगिरिजी लिखते हैं कि "अच्युतेति संबोधनतया भगवतः स्वरूपं न कदाचिदपि प्रच्युतिं प्राप्नोतीत्युच्यते।" अच्युत इस सम्बोधनसे भगवान् कभी भी च्युतभावको नहीं प्राप्त होते। फिर गिरिजी इसी विषयको लेकर भक्तिमार्गकी महिमा किस प्रकार वर्णन करते हैं?

अर्जुनेन सारथ्ये सर्वेश्वरो नियुज्यते। किं हि भक्तानामशक्यं यत् भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठति। यक्तं हि भगवतो भक्तपारवश्यम्।

सर्वेश्वर जो सबके नियामक और स्वामी हैं वे ही यहाँपर अर्जुनके द्वारा सारथीका कार्य करनेके लिये बाध्य किये जाते हैं। अहा हा! भक्तोंके लिये क्या अशक्य हैं! जिनकी आज्ञामें भगवान् स्वयं स्थित होते हैं। भगवान्की भक्ताधीनता उचित ही है। भक्तोंके चरितोंमें इस विषयका वर्णन सर्वत्र पाया जाता

है। भगवान्‌के भक्त जो भगवानकी आज्ञाका पालन करते हैं भगवान् स्वयं उन भक्तोंकी आज्ञाकी अपेक्षा रखते हैं। भगवानने दुर्वासाजीके प्रति स्पष्ट कहा है कि–

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजन प्रियः॥

श्रीदामोदरलीलामें तथा अनेक लीलाओंमें भी भगवानने अपनी भक्ताधीनता दिखलायी है। कुंताजीकी भक्तिसे और अर्जुनके सख्यप्रेमसे प्रभु अर्जुनके अधीन हो रहे हैं उनके सारथी बन रहे हैं तभी तो अर्जुन भगवानके प्रति कहता है कि हे अच्युत! मेरा रथ उभय सेनामें खड़ा कर दो।

अर्जुन स्वयं योद्धा हैं वह दर्शकके समान उभयसेनाके मध्यस्थलमें रथ खड़ा करके क्या देखना चाहता है? इसका उत्तर अर्जुनके वाक्यमें रहा है। अर्जुन कहता है कि मेरे साथ युद्ध करनेवाले कौरवोंके पक्षमें कौन कौन है? और मेरी सेनामें कौन कौन हैं? यद्यपि अर्जुनको यह बात भी प्रथमसे विदित है फिर भी प्रस्तुत समयमें एकबार सम्पूर्ण सेनाओंको एक साथ देखनेकी उसकी इच्छा हुई है।

कोई टीकाकार कहते हैं कि दुर्बुद्धिवाले धृतराष्ट्रके उस पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे कौन कौन यहाँ आये हैं उन्हें मैं देखूँगा? किन्तु यह भाव हमें ठीक नहीं मालूम होता गम्भीर अर्जुनके हृदयमें ऐसा क्षुद्रभाव इस अवसर पर सम्भव नहीं। उसने तो यही कहा कि हे भगवन्! दोनों सेनाओंके मध्यमें

मेरे रथको तब तक रखो; जब तक युद्धकी इच्छासे अवस्थित इन सबको मैं देखलूँ ॥ २१, २२, २३ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

हे भारत (हे धृतराष्ट्र !) गुडाकेशेन (गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेन अर्जुनेन) एवमुक्तः (आदिष्टः प्रवर्तितः) हृषीकेशः (सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेन सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञः) उभयोः सेनयोः मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतः (राज्ञांच) प्रमुखतः (सन्मुखे) रथोत्तमम् (अग्निदत्तं दिव्यं रथम्) स्थापयित्वा उवाच हे पार्थ ! एतान् समवेतान् (भवद्भिः सार्द्धं युद्धार्थं संगतान् कुरून् (कुरुवंशप्रसूतान् पश्य ।)

अत्रानन्दगिरिः—एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं निवर्त्तयिष्यतीति धृतराष्ट्रस्य मनीषां दुदूषयिषुः सञ्जयो राजानं प्रत्युक्त्वानित्याह सञ्जयेति । भगवतो हि भूभारापहारार्थं प्रवृत्तस्यार्जुनाभिप्रायप्रतिपत्तिद्वारेण स्वामिसन्धिं प्रतिलभमानस्य परोक्तिमनुसृत्य स्वाभिप्रायानुकूलमनुष्ठानमादर्शयति एवमिति । भीष्मद्रोणादीनामन्येषां च राज्ञामन्तिके रथं स्थापयित्वा भगवान् किं कृतवानिति तदाह उवाचेति । एतानभ्यासे वर्तमानान् कुरून् कुरुवंशप्रसूतान् भवद्भिः सार्धं युद्धार्थं संग-

तान् पश्य । दृष्ट्वा च तैः सहात्र युयुत्सा तवोपावर्तते तैः साकं युद्धं कुरु नो खल्वेतेषां शस्त्रास्त्रशिक्षावतां महीक्षितामुपेक्षोपपद्यते । सारथ्ये तु न मनः खेदनीयमित्यर्थः ॥ २४-२५ ॥

अन्वयार्थ—हे भारत ! (हे धृतराष्ट्र) गुडाकेशेन (अर्जुनके द्वारा) एवं (इस प्रकारसे) उक्तः (कहे जानेपर) हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) भीष्मद्रोण प्रमुखतः (भीष्मद्रोणके सामने) सर्वेषां महीक्षितां च (सब राजाओंके भी सामने) रथोत्तमम् (उत्तम अग्निदत्त रथको) स्थापयित्वा (रखकर) हे पार्थ ! (हे अर्जुन !) समवेतान् (एकत्रित) एतान् कुरुन् पश्य (इन कौरवों को देखो) इति उवाच (ऐसा बोले) ।

सरलार्थ—संजयने कहा—हे महाराज ! अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीच तथा भीष्म द्रोण और समस्त राजाओंके सम्मुख उत्तम रथको रखकर कहा—हे पार्थ ! एकत्रित हुए इन कौरवोंको देखो ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

सञ्जय बड़ाही चतुर पुरुष एवं सबका शुभचिन्तक है साथ ही दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेसे इसके कथनके पदपदमें परमभाव रहे हुए हैं । यथार्थवादी धृतराष्ट्रके लिये यहाँपर भारत सम्बोधन देकर उनके पूर्व पुरुष महात्मा भरतराजाका स्मरण करा देता है और उसके द्वारा संकेत करता है कि कौरव पाण्डव एक कुलजात हैं उनमें परस्पर युद्ध होनेकी तैयारी हो रही हैं । इसको निवृत्तिके लिये

आपको अब भी सन्धिका उद्योग करना उचित है। सञ्जय यथार्थ बातें कह रहा है; किन्तु धृतराष्ट्र जो केवल नेत्रान्धही नहीं मोहान्ध भी बन रहा है वह इनके हृदय तथा शब्दोंके भावोंको न समझ सकता है न उसका उस ओर ध्यान ही हैं।

अर्जुनके लिये इस श्लोकमें 'गुडाकेश' शब्द प्रयोग है इसके अर्थपर तथा भावपर विचार करें।

१–गुडाका = निद्रा, ईश = प्रभु अर्थात् जिसने निद्राको वशीभूत किया है। अर्जुन जीतनिद्र होनेके कारण कार्यकालमें निद्रित, विह्वल, मोहित अथवा हतचेतन होनेवाला नहीं हैं। गुडाकायाः ईशः गुडाकेशः।

२–अंगुष्ठ और तर्जनीके संगमस्थानका नाम 'गुडा' मुद्रिका है तदाकारकारित केशविशिष्ट अर्थात् तरंगायित केशयुक्तको गुडाकेश कहते हैं।

३–गुडं आकृति व्याप्नोतीति गुडकः शिवः। अर्थात् शंकर जिसका ईश्वर वा रक्षक है वह गुडाकेश।

४–गुड शब्दका अर्थ है गोलक। इस ब्रह्माण्डरूप गोलकके अन्तर बहिर्व्याप्त भगवान् जिसके रक्षक हैं वह गुडाकेश है।

५–भगवानको जो अपना ईश्वर अथवा आत्मा जानता है वह मुक्तिभागी रिपुविजयीका नाम गुडाकेश है।

६–गुडके समान अत्यन्त मधुर समझकर भक्तगण जिसको उपगत होते हैं वे गुडाक-भगवान् हैं वह भगवान् जिसके रक्षक हैं वही गुडाकेश।

अर्जुन सदा सचेतन, कार्यमें कुशल और भगवदनुगत होने के कारण युद्धमें सदा अजेय यह समझानेके लिये तथा इसका विजय होगा यह धृतराष्ट्रको स्पष्ट करनेके लिये सञ्जयने अर्जुनका यहाँ पर 'गुड़ाकेश' नाम दिया है।

ऋषीकेश शब्दके द्वारा भगवानकी निर्विकारता यहां बतायी है। तथा सर्वेन्द्रिय प्रेरक एवं सर्वेन्द्रियोंके नियन्ता समझाया हैं। भगवान् ऋषीकेश हैं सबके निगूढ अभिप्रायको भी सम्यक् जानने वाले हैं।

भगवानने अर्जुनके लिये यहाँपर पार्थ सम्बोधन दिया है। 'पृथा' स्त्री सम्बन्ध सूचित कर अभी स्त्रीजाति सुलभ शोकमोह अर्जुनमें आनेवाला है इस बातको 'ऋषीकेश' होनेके कारण अंतर्यामी भगवान् जानते हैं॥ २४-२५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥

अथ पार्थः तत्र (सैन्यदर्शने) उभयोः सेनयोः अवस्थितान् पितॄन् (पितृव्यान् भुरिश्रवः प्रभृतीन्) पिताहान् भीष्मसोमदत्तादीन्) आचार्यान् (द्रोणकृपादीन्) मातुलान् (शल्यशकुनिप्रभृतीन्) भ्रातॄन् (दुर्योधनादीन्) पुत्रान् (लक्ष्मणादीन्) पौत्रान् (नप्तॄन् लक्ष्मणादिपुत्रान्) सखीन् (अश्वत्थामाजयद्रथप्रभृतीन् वयस्यान्) श्वसुरान् (द्रुपदप्रभृतीन्) सुहृदश्च एव (कृतोपकारान् कृतवर्म भगदत्तप्रभृतीन्) अपश्यत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—तत्र (वहाँ) उभयोः अपि (दोनों पक्षके ही सैन्योंके भीतर) स्थितान् (युद्ध करनेके लिये उपस्थित) पितॄन् (भूरिश्रवादि पितृव्योंको) अथ (तथा) पितामहान् (भीष्मसोमदत्तादि पितामहोंको) आचार्यान् (द्रोण कृपादि आचार्योंको) मातुलान् (शल्यशकुनि आदि मामाओंको) भ्रातॄन् (दुर्योधनादि भाइयोंको) पुत्रान् (लक्ष्मणादि पुत्रोंको) पौत्रान् लक्ष्मणादिके पुत्रोंको । तथा (तथा) सखीन् (अश्वत्थामा जयद्रथादि सखाओंको) श्वशुरान् सुहृदः च एव (और श्वसुर तथा कृतवर्मादि सुहृदोंको) पार्थः अपश्यत् (अर्जुनने देखा)

सरलार्थ—वहाँ पर अर्जुनने दोनों सेनाओंके भीतर अवस्थित भूरिश्रवादि पितृव्यगण, भिष्मादि पितामहगण, द्रोणादि आचार्यगण, शकुनि आदि मातुलगण, दुर्योधनादि भ्रातृगण, लक्ष्मणादि पुत्रगण, पौत्र अर्थात् लक्ष्मणादिके पुत्रगण, अश्वत्थामादि मित्रगण, श्वसुरगण, तथा कृतवर्मादि सुहृदगण सभीको देखा ।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

अर्जुनने भगवानकी आज्ञासे युद्धभूमिमें सब ओर देखा तो क्या देखा ? सम्पूर्ण रणभूमि आत्मीयजनोंसे परिपूर्ण होरही है । धर्मक्षेत्रके प्रभावसे तथा भगवानके सानिध्यके प्रभावसे अर्जुन जो प्रथमसे ही सात्विकी प्रकृतियुक्त है, जिनके माता पिता सात्विक थे, जिनके मातामह तथा मातामही विशुद्ध सत्त्वगुणकी प्रतिमास्वरूप थे । उनके अन्तःकरणमें सात्विकी वृत्ति जाग्रत होगयी । आज अर्जुन उन महान् शत्रु तथा उसके पृष्टपोषकोंके प्रति शत्रुभाव

तथा द्वेषभावसे रहित होगया। उसने कौरवपक्षमें भूरिश्रवादि पितृव्य, भीष्मसोमदत्तादि पितामह, शल्य, शकुनि प्रभृति मातुलगण, द्रोण, कृप प्रभृति आचार्यगण, लक्ष्मणादि पुत्रगण और इनके आत्मीयजन एवं अश्वत्थामा, जयद्रथ प्रभृत्ति मित्रगण तथा कृतवर्मा भगदत्तादि सुहृद्गण विद्यमान हैं। सुहृद् शब्दसे मातामहादि अन्यान्य आत्मीयजन भी समझना, इसी प्रकार अपने पाण्डव पक्षमें भी केवल आत्मीयजन ही दृष्टिगत हुए॥ २६॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ २७॥

ततः किं कृतवाँस्तह, सः कौन्तेयः (कौन्तेय इति स्त्रीप्रभवत्व कीर्तनम्) अवस्थितान् (सेनाद्वये व्यवस्थितान्) तान् सर्वान् (यथोक्तान् पितृपितामहादीन् बन्धून्। बध्नन्ति परस्परं स्नेहपाशैरिति बन्धवः तानवस्थितान्) समीक्ष्य (अवलोक्य) परया (महत्या) कृपया (स्नेहेन) आविष्टः (गृहीतः परमकृपापरवशः सन्) विषीदन् (विषादं उपतापम् प्राप्नुवन्) इदं अब्रवीत् (भगवन्तं उक्तवान्) स्व सैन्ये पूर्वमपि कृपा अस्ति परसैन्ये त्वपरापि साभूदित्यर्थः॥२७॥

अन्वयार्थ—सः कौन्तेयः (अर्जुन) अवस्थितान् (ठहरे हुए) तान् सर्वान् बन्धून् (उन सब आत्मीयजनोंको) समीक्ष्य (देख कर) परया कृपया (अत्यन्त करूणाके द्वारा) आविष्टः (अभिभूतहोकर) विषीदन् (दुःखित चित्तसे) इदं अब्रवीत् (यहबोले)।

सरलार्थ—अपने आत्मीयजनोंको युद्धक्षेत्रमें उपस्थित देखकर अतिशय करूणासे अर्जुनका चित्त भरगया और विषादग्रस्त होकर वह अर्जुन कहने लगा।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

अर्जुन इन समस्त बन्धु बान्धवोंको तथा स्नेही सम्बन्धी-जनोंको सम्यक् देखकर परम कृपासे युक्त होकर विषादको प्राप्त हुआ । अर्जुनका यहाँपर कौन्तेय नाम देना उचित ही है माता कुन्ताजी अत्यन्त ममता एवं दयामयी थी । वह दुःख स्वयं भोग सकती थी; किन्तु दूसरेको न दुःख दे सकती थी न दूसरेका दुःख देख ही सकती थी । संसारमें सभी लोग सुख माँगते हैं; किन्तु माता कुन्ताजी तो भगवानसे भी सुखकी अपेक्षा दुःख माँगती थी; क्योंकि वह सात्विकभाव युक्त थी । उसको सात्विक सुख क्या है वह ज्ञान था—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

जो सुख आरम्भमें विषके समान, परिणाममें अमृतके समान हो तथा आत्मनिष्ठ बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होता है, वह सात्विक सुख कहा गया है ।

इस सात्विक वृत्तिप्रधान माताका पुत्र अर्जुन भी इस समय सात्विकभावसे युक्त हो गया है । ममताके साथ करुणाका भाव स्वाभाविक है उसीसे विषादकी उत्पत्ति होती है, अतएव कृपाकी पराकाष्ठाके कारण अर्जुन व्यथितान्तःकरण हो गया । इस अव-स्थाके बाह्यलक्षण भी स्पष्ट हो गये । अर्जुन जलदश्रुलोचन और गद्गदकण्ठा होकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति कहने लगा । 'परया

कृपया आविष्टः' परमकृपासे युक्त होकर यह स्पष्टार्थ हैं; किन्तु "कृपया अपरया आविष्टः" ऐसा भी पदच्छेद किया जा सकता है। जिसका आशय यह होगा कि अर्जुन निजपक्षमें तो प्रथमसे ही कृपायुक्त था; किन्तु इस समय कौरवपक्षके प्रति भी उसको अपरा अर्थात् द्वितीया कृपाका उदय हुआ ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

अर्जुन उवाच—हे कृष्ण! युयुत्सुम् समुपस्थितम् योद्धुमिच्छन्तं इमम् स्वजनं (बन्धुजनम्) दृष्ट्वा मम गात्राणि मदीयानि करचरणादीनि) सीदन्ति (निश्चेष्टानि भवन्ति शिथिलायन्ते) मुखम् च परिशुष्यति। मे (मम) शरीरे वेपथुः (कम्पः) च रोमहर्षः (रोम्णां गात्रेषु पुलिकितत्त्वम् रोमाञ्चः) च जायते। हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते (भूमौ निपतति) त्वक् च एव परिदह्यते सर्वतः संतप्यते। गाण्डीवभ्रंसनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परिदाहेन् चान्तः सन्तापो दर्शितः। हे केशव! अवस्थातुं (स्थिरो भवितुं) न च शक्नोमि। तत्र हेतुः मे (मम) मनश्च भ्रमति इव। विपरीतानि निमितानि (अनिष्टसूचकानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि (अनुभवामि) ॥ २८—२९—३० ॥

अन्वयार्थ–हे कृष्ण ! (हे कृष्ण !) समवस्थितान् (युद्ध-क्षेत्रमें अवस्थित) इमान् युयुत्सून् (इन सब युद्ध करनेके इच्छुक आत्मीयोंको) दृष्ट्वा (देखकर) मम गात्राणि (मेरे शरीरके अंग) सीदन्ति (अवसन्न होरहे हैं) मुखं च परिशुष्यति (और मुख सूख रहा है)। मे शरीरे (मेरे शरीरमें) वेपथुः च (कम्प) रोमहर्षः च (और रोमाञ्चन) जायते (होरहा है), हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवं (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (ढीला होकर जमीनमें गिर रहा है) त्वक् च एव (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रहाहै)। हे केशव ! (हे केशव !) अवस्थातुं (ठहर) न च शक्नोमि (मैं नहीं सकता) मे मनः च (मेरा मन भी) भ्रमति इव (घूमसा रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (वामनेत्र स्फुरण आदि विपरीत निमित्त समूह भी) पश्यामि (देख रहा हूँ)

सरलार्थ–अर्जुनने कहा–हे कृष्ण ! युद्धकी इच्छासे समुपस्थित इन आत्मीयोंको देखकर मेरे सब अंग अवसन्न होरहे हैं, मुख सूखता है, शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्चन होरहा है, हाथसे गाण्डीव गिरा जारहा है और शरीरमें जलन होने लगी है। हे केशव ! मुझसे स्थिर नहीं रहा जाता है, मेरा मन मानो घूम रहा है, और वामनेत्र नाचना आदि अनेक अपशकुनोंको देख रहा हूँ ॥ २८-२९-३० ॥

श्रीगीतार्थप्रकाश।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका भक्त है, सखा है, श्रीप्रभुने स्वयं दयाकरके उसको सख्यभक्तिका दान कियाहैं। नवविध भक्तिमें सख्य

आठवीं भक्ति है। सख्य भक्तिमें भगवान् भक्तको सखा समझते हैं। भक्त भी भगवानको अपना सखा मानकर अपने सुख दुःखका सङ्गी बनाताहै, अर्जुनने महाभारतके युद्धके अवसर पर भगवानको अपना सारथी बनाया है और भगवानने भी उसका सारथीपन स्वीकार किया है। अर्जुनने भगवानसे प्रार्थना की कि मेरा रथ उभय सेनाओं के मध्यमें स्थापित करो, मैं उभयपक्षकी सेनामें रहे हुए योद्धाओंको देख लूँ। भगवानने तदनुसार रथ खड़ाकर अर्जुनसे कहा कि—"समवेतान् कुरुन् पश्य" एकत्र हुए इन कौरवोंको देखो। 'पश्य' शब्दके प्रयोग करनेका अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हारा सारथी हूँ। सावधानताके साथ इस युद्धमें मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, तुम निःशङ्क होकर विरुद्धपक्षके योद्धाओंको देखो। इस 'पश्य' शब्दके भीतर 'शोक मोहादि द्वारा अभिभूत मत होना' यह भाव भी निगूढरूपसे निहित है। अर्जुनने भगवदाज्ञानुसार इस युद्धभूमिमें आये हुए योद्धाओंको देखा और उन योद्धाओंमें सभी सम्बन्ध वाले हैं यह भी देखा, उन्हें मरणोन्मुख देखकर परम कृपा-ममता युक्त होकर अर्जुन क्या कहता है। इस पर विचार कर। यहाँ तीन श्लोकका प्रकाश साथ ही दिया जाता है। अर्जुनके भगवान सखा हैं। सखाके समीपमें अपनी हृदयवार्ता—हृदयवेदना कहनेमें संकोच उचित नहीं अतएव अर्जुनने अपने हृदयके उस समयके सभी विचारोंको स्पष्ट निवेदन किया।

अर्जुनने यहां पर भगवान् को दो नामसे सम्बोधन किया है। कृष्ण और केशव। इन दोनों शब्दोंके अर्थ पर भी थोड़ा

विचार कर लेना उचित है। कृष्ण नाम मंगल कारक है। कृष्ण नामकी महिमाको हम क्षुद्रमानव कहांतक वर्णन कर सकते हैं? वेदमें, गीतामें, श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें तथा अनेक शास्त्रोंमें कृष्ण नामकी श्रेष्ठताका वर्णन किया गया है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके द्वितीय कुमार श्रीविट्ठलनाथजी (गोस्वामीजी) अष्टाक्षरनिरुपण नामक ग्रन्थमें लिखते हैं कि—

श्रीकृष्णः कृष्ण कृष्णेति कृष्णनाम सदा जपेत्।
आनन्दः परमानन्दे वैकुण्ठं तस्य निश्चितम्॥

जो प्राणी श्रीकृष्णका नाम कृष्ण, कृष्ण और कृष्ण इस प्रकार सदैव जपता रहता है, उसको आनन्द और परमानन्द प्राप्त होता है, उसको वैकुण्ठधामकी प्राप्ति अवश्य होती है। कृष्ण शब्दमें प्रथम श्री जोड़कर श्रीकृष्ण ऐसा उच्चार किया जाता है। इस 'श्री' के उच्चारमात्रसे सर्व विध सौभाग्य एवं लौकिक अलौकिक धन सम्पत्ति प्रभृति प्राप्त होते हैं। 'कृ' के उच्चारणसे पाप मात्रका शोषण होता है और 'ष्ण' वर्णके उच्चारणसे समस्त ताप-सन्ताप क्षय होता है। श्रीद्वारका माहात्म्यमें लिखा है कि—

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति वक्ष्यति प्रत्यहं कलौ।
नित्यं तस्य भवेत् पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्।
मानवो हि कलौ नित्यं कृष्णरूपी भवेद्धि सः॥

कलियुगमें प्रतिदिन कृष्ण, कृष्ण और कृष्ण इस प्रकार उच्चार करनेवालेको करोड़ों तीर्थयात्रा करनेका पुण्य प्राप्त होता है। कलियुगमें प्रतिदिन कृष्ण नामका उच्चार करनेवाला कृष्णरूप हो जाता है।

मधुर मधुरमेतन्मंगलं मंगलानां
सकल निगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्ण नाम ॥

यह कृष्ण नाम मधुरमें मधुर और मंगलमें मंगलरूप है। कृष्ण नाम जीवमात्रका उद्धारक है । श्रीवसुदेवजीकी प्रेरणासे यदुकुलके आचार्य गर्गमुनि नन्दालयमें जाकर नामकरण संस्कारके अवसरपर कहते हैं कि—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥

यह बालक युग युगमें शरीर धारण करता है जिससे किसी युगमें इसका शुक्लवर्ण, किसी युगमें रक्तवर्ण और किसी युगमें पीतवर्ण होता है सम्प्रति कृष्ण वर्ण हुआ है इसलिये इसका नाम कृष्ण हुआ । कृष् धातुको णका प्रत्यय लगनेसे कृष्ण शब्द सिद्ध हुआ है । 'कर्षति पापानि इति कृष्णः' जो समस्त पापको कर्षण अर्थात् उन्मूलन करते हैं वह कृष्ण कहा जाता है, 'कर्षति विश्वं इति कृष्णः' जो अपनी माया रज्जुके द्वारा बन्धन करके जगतको कर्षण करता है अर्थात् किसी समय अपने समीपमें और किसी समय दूर फेंकता है वह कृष्ण ।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

'कृष्' शब्द भूवाचक है और 'ण' आनन्दवाचक है । इन दोनों को साथमें मिलानेसे 'कृष्ण' इस अभिधा शक्तिसे परब्रह्मका वाचक होता है । अर्थात् कृष्ण शब्दमें कृष+ण इसका

पूर्वभाग भू अर्थात् सत्ताका वाचक और उत्तरभाग आनन्दका वाचक होनेसे सदानन्द और प्रत्याहार न्यायसे चित् भाग भी मध्य-पाती होनेसे 'सच्चिदानन्द' ऐसा कृष्ण शब्दका अर्थ होता है।

तमालश्यामलत्विषि श्रीयशोदास्तनंधये।
कृष्ण शब्दो रूढ़िरिति सर्वशास्त्रविनिर्णयः॥

कमलके समान श्यामलकान्तिवाले श्रीयशोदानन्दनको ही कृष्ण कहते हैं। यह रूढ़ शब्द है। यही समस्त शास्त्रोंका स्थिर सिद्धान्त है।

शब्द तीन प्रकारके होते हैं। यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़।

यौगिक—जो प्रकृति प्रत्ययके अनुसार अर्थका प्रकाश करे वह यौगिक। यथा शय्या शी धातुका उत्तर अधिकरण वाच्य क्यप् प्रत्यय करके शय्या शब्द सिद्ध होता है। शी धातुका अर्थ 'शयन करना' और क्यप् प्रत्ययका अर्थ 'जिसमें' होता है। अतएव शय्या शब्दका अर्थ 'जिसमें शयन रहता है' यहांपर प्रकृति प्रत्ययके अनुसार ही शय्या शब्दका अर्थ बिछौना हुआ है।

योगरूढ़—जो प्रकृति प्रत्ययके अनुसार अर्थ प्रकाशित करके भी सर्व साधारणको न समझाकर पदार्थ विशेषको समझाता है वह योगरूढ़। यथा—सरोज। 'सर' शब्दके पूर्व जन् धातुके उत्तर भागमें 'ड' प्रत्यय लगानेसे सरोज शब्द बनता है। उसका प्रकृति प्रत्ययानुसारी अर्थ जो सरोवरमें जन्म ग्रहण करता है; किन्तु पद्म, शैवाल, मत्स्य प्रभृतिके सरोवरमें जन्म ग्रहण करनेपर भी सरोज शब्दसे केवल पद्म ही समझा जाता है।

रूढ़—जो प्रकृति प्रत्ययका अर्थ प्रकाशित न करके किसी प्रसिद्ध अर्थको प्रकाशित करें वह रूढ़। यथा मण्डप। मण्ड शब्दके पूर्व 'पा' धातुके अर्थ 'क्' प्रत्यय लगनेसे 'मण्डप' शब्द सिद्ध होता हैं उसका प्रकृति-प्रत्ययगत अर्थ जो मण्ड अर्थात् माड़ पान करे; किन्तु उस अर्थके लेशमात्रको भी प्रकाश न करके मंडप शब्द गृहको समझाता है यथा 'चंडिमंडप' इत्यादि।

अमरकोषमें विष्णु शब्दके पर्य्यायके प्रथमही 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' इन तीन नामोंका उल्लेख है वह भी यथाक्रम यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़।

विष्णु—'विष् धातुके उत्तर 'नु' प्रत्यय करनेसे 'विष्णु' शब्द सिद्ध होता है। 'विष्' धातुका अर्थ व्यापक होकर रहना 'नु' प्रत्ययका अर्थ तत्कर्ता अर्थात् जो विश्वमें व्याप्त होकर रहे वह विष्णु। यहां पर ठीक प्रकृति प्रत्ययका अर्थ ही प्रकट होता है जिससे यह यौगिक शब्द।

नारायण—नार—जल—अयन—आश्रय। जल जिसका आश्रय वह नारायण। यहां पर प्रकृतिप्रत्ययगत अर्थ प्रकाशित होते हुए भी जलाश्रित मत्स्यादिको न समझा कर प्रलयसमुद्रके जलशायी श्रीहरिको ही नारायण शब्द समझाता है जिससे यह योगरूढ़।

कृष्ण—मंडपादि शब्दोंके समान कृष्ण शब्द रूढ़ है अर्थात् यह प्रकृति प्रत्ययगत अर्थको न समझाकर श्रीयशोदानन्दनको ही समझाता है। भगवान् कृष्ण वर्ण होनेके कारण कृष्ण नहीं हैं; क्योंकि वे पूर्ण ब्रह्म हैं, वे निर्गुण हैं उनमें प्रकृतिजात श्वेत-

पीतादि किसी वर्ण-रंगकी संभावना नहीं। जिस प्रकार पीत-कमली रोगग्रस्त व्यक्ति अपनी दृष्टिके दोषसे समस्त वस्तुको पीले रंगकी देखता है इसी प्रकार प्रबल तमोगुणान्वित हमारी दृष्टिके दोषसे हम उसको तमोवर्ण अर्थात् कृष्णवर्ण देखते हैं और रजोगुणादि की अभिवृद्धिसे उसके रक्तवर्णादिका अवलोकन करते हैं। वे पापोंका कर्षण करते हैं अथवा जगतका आकर्षण करते हैं जिससे भी कृष्ण नहीं हैं। भगवान् कृष्ण पूर्ण ब्रह्म निर्गुण, निर्दोष, अखंड, सच्चिदानन्द, रसस्वरूप हैं। हम अपनी गति अथवा खंड खंड मेघके प्रवाहानुसार जिस प्रकार निश्चल चन्द्रको चलता हुआ समझते हैं उसी प्रकार अपने कार्य और कालके प्रवाहानुसार उसके कार्यका अनुभव करते हैं। जो वाणी और मनसे अतीत जो वेदातीत परब्रह्म है, जो सच्चिदानन्द मूर्ति हैं, उनके स्वरूपका और नामका हम मंदबुद्धिवाले निर्णय किस प्रकार कर सकते हैं? इसीसे सास्त्रकारोंने यही कहा है कि—

तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर।
यादृशस्त्वं महादेव तादृशाय नमो नमः॥

हेपरमेश्वर! आप किस प्रकारके हैं इस विषयमें तुम्हारा तत्व हम नहीं जानते। हेसुरेश्वर! आप जिस रूपमें हैं उसी रूपको हम बार बार प्रणाम करते हैं।

अर्जुनने यहांपर भगवान् श्रीकृष्णका मंगलमय नाम ग्रहण किया है इसलिये अर्जुनका सब प्रकार मंगल होगा।

देवता वाचका शब्दाः ये च मंगलवाचकाः
त एव आदितः प्रयोक्तव्याः (काव्यप्रकाश)

इस वाक्यके अनुसार अर्जुनने यहांपर युद्धारंभमें भगवानका कृष्ण नाम कहा है। कृष्णकी महिमा, कृष्णके स्वरूप, लीला एवं नाममाहात्म्य पर आगे इस भक्तिशास्त्र, मोक्षशास्त्र गीतामें विचार करेंगे। अर्जुन भगवानको कृष्ण सम्बोधन देता है वह उसके हृदयका विशाल भाव है हम भगवति श्रुतिके शब्दोंमें यहां पर इतना ही कहेंगे कि 'कृष्णो वै परमं दैवतम्'। कृष्ण ही परम दैवत हैं। मधुसूदन सरस्वतीजी कहते हैं कि "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने"। कृष्णसे पर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता हूं। एक महात्मा कहते हैं कि;

कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मी भवन्ति तस्याशु महापातककोटयः॥

कृष्ण इस प्रकारका मंगलनाम जिसकी वाणिमें हैं उसके करोड़ों प्रकारके महापातक शीघ्र जल कर भस्म हो जाते हैं।

श्रीविष्णुसहस्रनाममें कृष्ण शब्दके ऊपर शांकरभाष्यमें स्वामी शंकराचार्य्यजी भी लिखते हैं कि—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
विष्णुस्तद्भाव योगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥
(महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ७० श्लोक ५)

इति व्यासवचनात् सच्चिदानन्दात्मकः कृष्णः।
कृष्णवर्णात्मकत्वाद्वा कृष्णः।

कृषामि पृथिवीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो हलः।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन॥

श्रीमद्भागवतके कृष्ण और महाभारतके कृष्णको भिन्न भिन्न समझानेवाले तथा कृष्ण भगवान् न होकर मनुष्य थे तथा अव-

तारवाद पीछेसे कल्पना किया हुआ है, यह कहनेवाले गीताके आधुनिक व्याख्याकार कृष्ण शब्दके ऊपरोक्त अर्थपर विचारकर अपनी भ्रांतिको दूर करें। आगे हम गीताके कृष्ण सच्चिदानन्द परब्रह्म ही भागवतमें वर्णित पुरुषोत्तम नन्दनन्दन हैं यह स्पष्ट करेंगे। यहां पर केवल इतना ही कहना हैं कि कृष्ण ही देवकी-नन्दन वासुदेव हैं, कृष्ण ही नन्दनन्दन यशोदोत्संगलालित हैं। कहांपर व्यूहलीला और कहां पुरुषोत्तमलीला दिखा रहे हैं। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको परमतत्वरूप नहीं समझते उनके लिये इतना ही मात्र कहेंगे।

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुः आसुरांस्ताँन् विदुर्बुधाः॥

अर्जुन भगवानकी महिमाको जानता था इस लिये उसने और भी एक सम्बोधन दिया है केशव। केशव शब्दका भावार्थ यह है।

"केशौ वात्यनुकम्पया गच्छतीति केशवः" अर्थात् क ब्रह्मा-सृष्टिकर्ता और ईश-रुद्र-संहर्ता इन सृष्टा और संहर्ताओंके ऊपर जिनकी कृपा बनी रहती हैं वे ही केशव हैं अथवा केशो यस्या स्तीति केशवः। केशव शब्दपर अधिक आगे कहेंगे।

सच्चिदानन्दमय भगवान् स्वयं क्लेशसम्पर्क विहीन है फिर भी केशी आदि दुष्ट दैत्योंका संहार करते हुए भक्तोंका पालन किया है अतएव अर्जुन अपने शोक मोहको दूर करनेके अभिप्रायसे भगवानको केशव शब्द द्वारा सम्बोधन करता हुआ भगवानके शरणागत हुआ है फिर भी रजोगुण प्रधाना तामसिकी

बुद्धिके आविर्भावके कारण अपने अभिमतको प्रकाशित करता हुआ और भी युक्तियां भगवानके समीप उपस्थित करता है।

अर्जुन अपने देहके सम्बन्धियोंमें ममता युक्त है अतएव बन्धुबान्धवोंके वधकी परिस्थिति देखकर अधीर बनगया! उसकी अधीरता अथवा घबड़ानेकी अवस्थाका वर्णन व्यासजीने अपनी भाषामें नहीं कहकर अर्जुनकी भाषामें इन श्लोकोंमें किया है। शरीरका अवसन्न होना मुख सूखना, कम्प, रोमांचन, शरीरमें जलनरूपी भीतरी संताप, मन घुमनारुप, मूर्च्छाकी पूर्वावस्था ये चित्तके प्रवल विकारके सूचक हैं। उसी विकारमें उसके अनुसार वामनेत्रस्फुरणादि अपशकुन भी होने लगे हैं। उसे अर्जुनने भावी अशुभके सूचक समझा है। वास्तविकमें ये शकुन उसके युद्धमें पराजित होने आदिके सूचक नहीं थे; किन्तु उसके व्यामोह के सूचक थे। आस्तिक लोग अपशकुनको देखकर भयभीत होते ही हैं। इन अपशकुनोंके अनीष्ट फलसे बचनेके लिये मङ्गलमय भगवानके नामोंका उच्चार आवश्यक है। अर्जुनने कृष्ण केशव, गोविन्द, माधवादि सम्बोधनोंसे गंभीर भाव बताया है यहांपर कृष्ण और केशव सम्बोधनसे अपना मनोभाव स्पष्ट बतलाया कि तुम कृष्ण हो, भक्तोंके सब दुःखोंको आकर्षण करने वाले हो मेरे दुःखोंको भी आकर्षण करके नष्ट कर दो। तुम केशव हो! केशी आदि दैत्य निधनके कारण केशव कहलाते हो मेरे हृदयमें आविष्ट शोकमोह रूपी दैत्यका संहार कर दो। इसके पश्चात् अर्जुनने अपने मनोभावको व्यक्त करने वाले निम्न वाक्य कहे हैं। २८, २९, ३०॥

*निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।३३।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

हे कृष्ण आहवे (युद्धे) स्वजनं हत्वा श्रेयश्च (पुरुषार्थम् च) न अनुपश्यामि। विजयं राज्यं च सुखानि न कांक्षे (विजये मम प्रवृत्तिर्न युक्ता, रन्धने यथा भोजनेच्छा विरहिणः। तस्मादरण्यनिवसनमेवास्माकं श्लाध्यं जीवनत्वं भावीति) हे गोविन्द ! (गाः सर्वेन्द्रियवृत्तीः विन्दसीति) नः (अस्माकं) राज्येन किम् ? (राज्यादिकं न कांक्षितम्) भोगैः (सुखैः) जीवितेन (जीवितसाधनेन) वा किम् ? येषां (बन्धूनाम्) अर्थे नः (अस्माकम्) राज्यम् भोगाः सुखानि च कांक्षितम् ते इमे। आचार्याः पितरः पुत्राः च तथा एव च पितामहाः मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः (भार्याणां भ्रातरो धृष्टद्युम्नादयः) तथा सम्बन्धिनः (कुटुम्बिनः) प्राणान् धनानिच (प्राणाशां धनाशां च) त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः। हे मधुसूदन ! महीकृते (महीमात्रप्राप्तये) किं नु त्रैलोक्यराज्यस्य

*इस अर्द्ध श्लोककी संस्कृतव्याख्या और प्रकाशादि पूर्व श्लोकमें है।

हेतोः अपि घ्नतः (अस्मान् मारयतः) अपि एतान् न हन्तुम् इच्छामि हे जनार्दन! धार्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादीन् भ्रातॄन्) निहत्य नः (अस्माकम्) का प्रीतिः (प्रसन्नता) स्यात्! ३१, ३२, ३३, ३४, ३५।

अन्वयार्थ—हे कृष्ण! (हे कृष्ण) आहवे (युद्धमें) स्वजनं हत्वा (आत्मीयजनोंको मारकर) श्रेयः च (कोई मंगल) न अनुपश्यामि (मैं नहीं देख रहा हूं) विजयं (युद्धमें जयलाभ) न कांक्षे (मैं नहीं चाहता) राज्यं च (राज्य भी) सुखानि च (और सुख भी) न (नहीं चाहता) हे गोविन्द! (हे कृष्ण!) येषां अर्थे (जिनके लिये) नः (हमारे) राज्यं भोगाः सुखानिच (राज्य, भोग और सुख समूह) कांक्षित (चाहे हुए हैं) ते इमे (वे ही सब) आचार्य्याः पितरः पुत्राः (आचार्य, पितृव्य, पुत्रगण) तथा एव च (ऐसे ही और) पितामहः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः (पितामह, मातुल, श्वसुर, पौत्र, श्यालक और कुटुम्बगण) प्राणान् धनानिच त्यक्त्वा (प्राण और धनकी आशाको परित्याग करके) युद्धे अवस्थिताः (युद्ध करनेको उपस्थित हैं) नः (अतः हमें) राज्येन किं (राज्यसे क्या प्रयोजन हैं?) भोगैः जीवितेन वा किं (भोगसे और जीवन धारणसे भी क्या प्रयोजन है?) हेमधुसूदन! (हेमधुसूदन!) घ्नतः अपि एतान् (हमें विनाश करने पर भी इनको) त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि (त्रिलोकीके राज्यके लिये भी) हन्तुं न इच्छामि (मैं मारना नहीं चाहता) महीकृते किं नु (केवल पृथिवी लाभके लिये कौनसी बात है?) हेजनार्दन! (हेजनार्दन!) धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य (धृतराष्ट्र पुत्रोंको मारकर) नः (हमें) का प्रीतिः स्यात् (क्या सन्तोष होगा?)

सरलार्थ—हे कृष्ण ! युद्धमें आत्मीयोंका वध करके मैं कोई मङ्गल नहीं देखता हूं । मैं न विजय, न राज्य और न सुखको चाहता हूं । हे गोविन्द ! जिन लोगोंके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वे ही ये आचार्य, पितृव्य, पुत्र तथा पितामह मामा, श्वशुर, पौत्र, साले और सम्बन्धिगण प्राण तथा धनकी आशा छोड़ युद्धमें आए हुये हैं, अतः हमें राज्य भोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन? हे मधुसूदन ! यद्यपि हमको वे मारें तथापि मैं इनको इस पृथिवीके लिये क्या, त्रिलोकके राज्यके लिये भी मारना नहीं चाहता हूं । हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रतनय दुर्योधन आदिको विनष्ट करके हमें क्या संतोष होगा ? अर्थात् कुछ भी संतोष नहीं होगा । ३१, ३२, ३३, ३४, ३५ ॥

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

आत्मीयजनोंके वधसे मेरा श्रेय होगा यह मैं नहीं देखता । श्रेयके सामने अर्जुन, प्रेयरूपी विजय राज्य, तथा विवध प्रकारके सुखोंको नहीं चाहता । धन्य अर्जुन तुम धन्य हो, तुम्हीं तो भगवानके उपदेशामृत-श्रवणके योग्य एवं उत्तम अधिकारी हो ! वास्तविकमें भगवान् तुम्हारे द्वारा दुष्टोंका संहार कराना चाहते हैं, धर्म राज्यकी स्थापनाकी आज्ञाका पालन करना तुम्हारा धर्म है उस धर्मका तुमने आगे चलकर पालन भी किया है; किन्तु तुम्हारे वर्तमान वाक्यसे तुम्हारी त्यागवृत्ति तुम्हारी प्रेयस्की अपेक्षा श्रेयस् लालसा श्लाघनीय है । तुम्हीं तो तत्वज्ञानके अधिकारी हो ! विजय तुमने विजयकी इच्छा छोड़ दी । राजन् ! तुमने राज्य तृष्णाको तिलाञ्जली दी और श्रेयकल्याणकी कामनासे

सुखमात्रका त्याग करनेको तत्पर हुए हो ! इन श्लोकोंका भाव स्पष्ट है; इस लिये इसके अर्थपर अधिक प्रकाश अनावश्यक है मात्र इतनाहीं कहदेना यथेष्ट है कि अर्जुनको क्षात्रधर्मके विरुद्ध मोह-जनित मनोभाव व्यक्त हुआ है। अर्जुनका कथन हैं कि बन्धु वधसे दृष्ट अथवा अदृष्ट कोई भी लाभ नहीं; क्योंकि आत्मीयों-को मारकर राजभोग आदि दृष्ट सुख कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा और स्वर्गादि अदृष्ट सुख तो शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए प्राण दे देने वालोंको ही मिलता हैं, उनको मारकर जीते रहनेसे अदृष्ट स्वर्गसुख दूर रहता है। आत्मीयजनोंके लिये ही तो मनुष्य राज्य, भोग सुखादि चाहते हैं जिनके लिये हम वैभव चाहते हैं वे तो प्राण एवं धनका त्याग करके यहां युद्धमें उपस्थित हैं। यहां पर कई टीकाकारोंने धर्मयुद्धमें मरनेवालोंको स्वर्गसुख मिलता हैं इसके लिये धर्मशास्त्रका निम्न प्रमाण दिया है उसको हम भी उद्धृत करदेते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राट्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

इस संसारमें दो प्रकारके लोग सूर्यमण्डल भेद पूर्वक दिव्य लोकमें गति प्राप्त करते हैं। प्रथम योगयुक्त परिव्राजक-सन्यासी और द्वितीय जो सन्मुख संग्राममें प्राण त्याग करते हैं। अर्जुनका विश्वास है कि हम इस युद्धमें मर नहीं सक्ते मार सकते हैं इस लिये आत्मीयजनवध द्वारा हमें राज्य सुख प्राप्त होगा। अतः दृष्ट सुखका कारणभूत वह नहीं होगा। भला जिनके पक्षमें न्याय है, धर्म है और भगवान् हैं युद्धमें उनके पराजय या मरणकी तो संभावना ही नहीं हैं।

एक बात अर्जुनके मनमें आयी कि भगवान् कदापि यह कहेंगे कि—

वृद्धौ च माता पितरौ साध्वीभार्या सुतः शिशुः ।
अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ (मनुस्मृति)

वृद्ध मातापिता, साध्वी स्त्री और छोटे बच्चोंके भरणपोषणार्थ शत अकर्म करके भी उनका पालन करना उचित है अतएव हे अर्जुन! तुम राज्य प्राप्त करनेमें वैराग्यवृत्तिका अवलम्बन मत करो इसके निमित्त अर्जुनने कहा है कि भगवन्! राज्य तो एकाकी भोग करनेकी सामग्री नहीं है । आत्मीय परिजन सहित लोग राज्य सुख भोगते हैं । ये मुझे शत्रु मानते हैं; किन्तु इन लोगोंके लिये जो स्नेह-ममता है उसे मैं निवृत्त नहीं कर सकता ।

अब गोविन्द, मधुसूदन और जनार्दन ये सम्बोधन यहां पर दिये गये हैं उनपर संक्षेपमें लिख देना उचित समझता हूं । भगवानके नामपर तथा उनके अर्थपर जितना विचार किया जाय उतना ही हमारे लिये सुखका कारण तथा कल्याणका कारण है ।

गोविन्द—गो—इन्द्रिय—विन्दत्ति—पालन अथवा अधिष्ठान करना । इन्द्रियगणके परिपालक अथवा अधिष्ठाताका नाम गोविन्द । गो—पृथिवी-उसका पालन करे, गो—वाणि-(वेद) उसका पालन करे, गो—गौ—उनका पालन करे उसका नाम गोविन्द है ।

भाष्यकार स्वामी शंकराचार्यजी विष्णुसहस्रनामकी व्याख्यामें गोविन्द नामपर लिखते हैं—

नष्टां वै धरणीं पूर्वमविन्दद्यगुहागतम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥१॥
(महाभारत शान्तिपर्व अ. ३४२ श्लो. ७०)
इति मोक्षधर्मवचनात् गोविन्दः ।

अहं किलेन्द्रो देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः ।
गोविन्द इति लोकास्त्वाँस्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम् ॥२॥
(हरिवंश २ । १६—४५।) इति ।

गौरेषा तु यतो वाणी तां च विन्दयते भवान् ।
गोविन्दस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते भवान् ॥३॥
इति च हरिवंशे (३ । ८८ । ५०)

गौर्वाणी तां विन्दतीति गोविन्दः ।

इसका भावार्थ यह है। भगवान् कहते हैं कि "मैंने पूर्वकाल में नष्ट हुई पातालगत पृथ्वीको पाया था; इस लिये देवताओंने अपनी वाणीसे गोविन्द कह कर मेरी स्तुति की" इस मोक्षधर्म के वचनानुसार भगवान् गोविन्द हैं। हरिवंशमें इन्द्रने कहा है कि "मैं देवताओंका इन्द्र हूं और तुम गौओंके इन्द्र हुए हो इसलिये भूमण्डलमें लोग तुम्हें गोविन्द कहकर तुम्हारी सर्वदा स्तुति करेंगे"। तथा गौ यह वाणी है और आप उसे प्राप्त कराते हैं इस लिये हे देव! मुनिजन आपको गोविन्द कहते हैं गौ वाणी को कहते हैं उसे जो जानते हैं वे गोविन्द कहलाते हैं।

गोविन्द नामकी महिमा हम कहां तक वर्णन करें ? 'गोविन्द दामोदराष्टक'में बताये हुए "गोविन्द दामोदर माधवेति" का पाठ करते करते अनेक महात्मा मुग्ध हो जाते हैं।

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण।
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे गोविन्द दामोदरमाधवेति ॥

श्रीविष्णुधर्ममें कहा है कि गोविन्द इतने पदके उच्चारणसे अधम क्षत्री भी विशुद्धात्मा बनकर तथा पापरहित होकर गोविन्दत्वको प्राप्त हो जाता है।

गोविन्देति समुच्चार्य पदं क्षपितकिल्बिषः।
क्षत्रबन्धुर्विशुद्धात्मा गोविन्दत्वमुपेयिवान् ॥

गरूड़पुराणमें भी गोविन्द नामका महत्व लिखा है।

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः।
गोविन्दनाममेघोघैर्नश्यन्ते नीरबिन्दुभिः ॥

गोविन्दनामके तुल्य अन्य कोई साधन नहीं हैं।

गोकोटिदानं ग्रहणेषु काशी प्रयाग गंगायुतकल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरूसमानदानं गोविन्दनाम्ना न कदापि तुल्यम् ॥

करोड़ों गौका दान, काशीजीमें ग्रहण स्नान, प्रयागराजमें अयुतकल्पवास, हजारों यज्ञ, मेरूके समान सुवर्णादिदान ये सब गोविन्दके नामके समान नहीं हो सकते।

सकृत् स्मृतोऽपि गोविंदो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तुलराशिमिवानलः ॥
सेयं वदन वल्मीक वासिनी रसनोरगी।
या न गोविंद गोविंद गोविंदेति प्रभाषते ॥
पावघल्ली मुखे तस्य जिह्वारूपेण तिष्टति।
या न वक्ती दिवारात्रौ गुणान् गोविंदसंभवान् ॥

श्रीगोविन्द एकवार भी स्मरण किये जाने पर मनुष्योंके सैकड़ों जन्मोंके किये हुये पाप समूह को इस प्रकार शीघ्र ही

भस्म कर डालते हैं जैसे अग्नि रूईके ढेरको । जो जिह्वा गोविन्द ! गोविन्द ! गोविन्द ! ऐसा नहीं कहती वह मुख रुपी बिलमें रहने वाली सर्पिणीके ही समान है। जो जिह्वा दिनरात श्रीगोविन्दके गुण नहीं गाती वह मनुष्यके मुखमें जिह्वारूपसे पापकी बेल ही रहती हैं।

कलावत्रापि दोषाढये विषयासक्तमानसः ।
कृत्वापि सकलं पापं गोविन्दं संस्मरन्नशुचिः ॥

विष्णुपुराणमें कहा है कि इस दोष पूर्ण कलियुगमें भी विषयासक्त मनुष्य समस्त पापोंको करके भी श्रीगोविन्दका चिन्तवन करनेसे पवित्र हो जाता है ।

श्रीमद्भागवतमें भी इन्द्रके मानापनोदनके लिये भगवानने श्रीगोवर्द्धनोद्धरण किया उस समय इन्द्रने स्पष्ट शब्दोंमेंकहा है कि—

अहमिन्द्रो हि देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः
गोविन्द इति लोके त्वां गास्यन्ति भुवि मानवाः ॥

मैं देवताका इन्द्र हूं और आप गौओंके इन्द्रताको प्राप्त हुए हैं अतएव पृथिवीमें मनुष्य आपको गोविन्द नामसे गावेंगे ।

शुकदेवजीने राजा परिक्षितके प्रति स्पष्ट कहा है कि—

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः ।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविंद इति चाभ्यधात् ॥
इति गोगोकुलपतिं गोविंदमभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृत्तो देवादिभिर्दिवम् ॥

समस्त शास्त्रोंमें श्रीगोविन्दनामकी महिमा गायी हुई है । स्वामी शंकराचार्यजीने काशीपुरीके उस वृद्ध ब्राह्मणको अन्य

समस्त कार्यों को छोड़कर गोविन्दका भजन करनेको उपदेश दिया है जो "चर्पटपञ्जरिका" नामसे प्रसिद्ध हैं जिसे कौन हिन्दु नहीं जानता ?

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते !

इसी प्रकार स्वामी शंकराचार्यजीने "गोविन्दाष्टक" बनाया है जिसमें गोविन्दनामकी महिमाके साथ भगवानकी लीलाका वर्णन है। गोविन्द नाम भक्तगणको अत्यन्त प्यारा है अर्जुन भक्त है उसने यहां पर भगवानको गोविन्द सम्बोधन देकर भगवानकी महिमाको स्वयं समझाता है यह स्पष्ट किया है।

मधुसूदन शब्दका अर्थ तथा जनार्दन शब्दका अर्थ तथा महत्त्व यहां पर देना चाहते थे; किन्तु स्थानाभावसे यहां नहीं दे सके। आगे द्वितीयाध्यायके चतुर्थश्लोकमें मधुसूदन शब्द आता है तथा तृतीयाध्यायके प्रथम श्लोकमें जनार्दन शब्द आता है वहां पर इन शब्दोंपर लिखेंगे।

केशव शब्दपर प्रथम ६६ तथा १०० वें पृष्ठमें थोड़ा लिखा था अवशिष्ठांश यहांपर लिखकर दोनों भाग एक साथ पढ़नेपर केशव शब्दकी महत्ता तथा केशव शब्दका आशय भक्तगण अच्छी तरहसे समझ जायँगे।

केशसंज्ञिताः सूर्यादिसंक्रान्ता अंशवः तद्वत्तया केशवः

सूर्यादिके अन्दर व्याप्त हुई किरणें केश कहलाती हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् केशव हैं। महाभारत शान्तिपर्वके अध्याय ३१ श्लोक ४८ में लिखा है कि—

अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः ।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मात् मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥

मेरी जो किरणें प्रकाशित होती हैं वे केश कहलाती हैं इस लिये सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे केशव कहते हैं ।

ब्रह्मविष्णु शिवाख्याः शक्तयः केशसंज्ञिताः ।
तद्वत्तया वा केशवः । 'त्रयः केशिनः' इति श्रुतेः ।
'मत्केशौ वसुधातले' इति केशव शब्दः शक्तिपर्यायत्वेन प्रयुक्तः ।

ब्रह्मा, विष्णु और शिवनामकी शक्तियां केश हैं । उससे युक्त होनेके कारण भगवान् केशव हैं । श्रुति कहती है, तीन केशवाले हैं । तथा मेरे दो केश अर्थात् शक्तियां पृथिवीतलमें हैं इस वाक्यमें केश शब्दका शक्तिके पर्यायरूपसे प्रयोग किया गया है । हरिवंशमें श्रीशंकरने कहा है कि—

को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवांशसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥

क ब्रह्माका नाम है और मैं समस्त देहधारियोंका ईश हूं । हम दोनों आपके अंशसे उत्पन्न हुए हैं इस लिये आप केशव नामवाले हैं ।

कश्च ईशश्च केशौ केशौ यस्यास्तीति केशवः ।

क ब्रह्म और ईश शंकर ये दोनों जिनके स्वरूप (अंश अथवा भक्त) हैं वह भगवान् केशव हैं ।

केशव कहि न, जाय कहा कहिये ।

प्रभृति अनेक स्थलोंपर भक्तजनोंने भगवानको केशव कह कर सम्बोधन दिया है । हम भी यहांपर यही कहेंगे कि—

कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ।

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

ननु "अग्निदो गरदश्चैव, शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षड़ेते ह्याततायिनः । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" इति वचनात् उक्तसर्वदोषदुषितानामेतेषां वधे न कश्चिद्दोष इत्यत आह । एतान् आततायिनः (अग्निदो गरदश्चेत्यादिलक्षणोपेतान्) हत्वा अस्मान् पापम् एव (बन्धुक्षयहेतुकम) आश्रयेत् तस्मात् वयं स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुम् न अर्हाः । हि यस्मात् हे माधव (माधवेति लक्ष्मीपतित्वात् नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसि इति भावः) स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम (भवेम) । सबान्धवान् इत्यपि पाठः ।

अन्वयार्थ—आततायिनः एतान् (इन आततायी अर्थात् शत्रुओंको) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हम लोगोंको) पापं एव (पाप ही) आश्रयेत् (लगेगा) तस्मात् (इसलिये) सबान्धवान् (सकुटुम्ब) धार्त्तराष्ट्रान् (दुर्योधनादिको) वयं हन्तुं न अर्हाः (हमें मारना उचित नहीं है) । हे माधव ! (हे कृष्ण !) हि (क्योंकि) स्वजनं (आत्मीयजनोंको) हत्वा (मारकर) कथं (कैसे) सुखिनः स्यामः (हम सुखी हो सकते हैं ?) ।

सरलार्थ—दुर्योधन आदि आततायी होने पर भी इनके मारनेसे हमें पाप ही लगेगा । इसलिये सकुटुम्ब इनका नाश करना हमें उचित नहीं है । हे माधव ! आत्मीयजनोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

अर्जुन भगवानसे निवेदन करता है कि हे भगवन् ! मैं यह अच्छी तरहसे जानता हूं कि ये कौरव मेरे आततायी शत्रु हैं । आततायीके वधमें कोई दोष नहीं है । इस प्रकारके शास्त्र वाक्यको भी मैं समझता हूं; किन्तु इनके वधसे हमें पाप ही लगेगा, अतएव हम इन्हें मारने योग्य नहीं; क्योंकि स्वजनोंको मारकर हम किस प्रकार सुखी होंगे ?

आततायी कौन कहा जाता है ? और आयतायीके वधमें दोष क्यों नहीं है ? इस पर हमें यहां विचार करना उचित है । आततायीके लक्षण बताते हुए ऋषियोंने लिखा है कि—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षड़ेते आततायिनः ।

अग्निद अर्थात् अग्नि लगानेवाला, गरद अर्थात् विष देनेवाला, शस्त्रपाणि अर्थात् शस्त्र हाथमें लेकर मारनेको आने वाला, धनापहः अर्थात् धन हरण करनेवाला, क्षेत्र हर अर्थात् जमीन हरण करनेवाला और दारहर अर्थात् स्त्री हरण करने वाला, ये छः प्रकारके आततायी होते हैं ।

आततायीनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायीवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

आततायीको आता हुआ देखकर विना विचारे ही मार डाले । क्योंकि आततायीके वध करनेवालेको किसी प्रकारका पाप नहीं लगता, और भी कहा है;

आततायीनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्।
जिघांसन्तं जिघांसीयाम् न तेन ब्रह्महा भवेत्॥

यदि आता हुआ आततायी वेदान्तपारगामी भी हो तो भी यदि वह मारनेकी इच्छा करके आरहा है तो उसको मारे। ऐसा करनेसे मारनेवाला ब्रह्महत्याकारी नहीं होगा।

पाण्डवोंके लिए कौरव सब प्रकारसे आततायी हैं। ऊपर बताये हुए छ प्रकारोंमेंसे एक भी प्रकार होनेसे आततायी कहा जाता है; किन्तु इन कौरवोंमें आततायीके छ लक्षण पूर्ण रूप से मिलते हैं। कौरवोंने पाण्डवोंको जतुग्रहमें भेजकर अग्निमें उनको जला देनेका प्रपंच रचा था, इस लिये ये अग्निद हैं। भीमको विष देनेसे गरद हैं। युद्धार्थ शस्त्र धारण करके उपस्थित हैं, अतएव शस्त्रपाणी है, द्युतक्रोड़ामें कपटसे धन और भूमि हरण करनेके कारण धनापह और क्षेत्रहर हैं, इसी प्रकार द्रोपदीके चीरहरण, केशकर्षणादिके कारण ये स्पष्ट दारहर हैं। कौरव तो आततायी हैं और वध योग्य हैं; किन्तु ऊपरोक्त कथनानुसार वेदान्तपारगामी द्रोणाचार्य, भीष्म महात्मा भी शस्त्रपाणि होनेके कारण आततायी बने हैं और वे भी वध योग्य हैं। ये शास्त्रवाक्य अर्जुनको स्मरण है और इन सबको आततायी समझकर उनको मारना उचित है, यह अर्जुन अच्छी तरह जानता है। भगवान् इन्हीं बातोंको न कहें यह समझकर अर्जुन कौरवोंको आततायी कहकर स्पष्ट करता है कि आततायीके वधमें दोष न भी हों; किन्तु हमें तो इनके मारनेसे दोष ही लगेगा। अर्जुनके इस कथनमें जो भीतरी आशय है, उसको कई

टीकाकारोंने स्पष्ट किया हैं और हम भी अर्जुनकी इस युक्तिमें अर्जुनका शास्त्रीयज्ञान और अर्जुनका धर्मज्ञान देखकर उसके मनोगत भावोंको स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं। अर्जुनका हृदय धर्मभावसे परिपूर्ण हैं यद्यपि वह क्षत्रिय पुत्र है, आतता-यियोंके वधके लिए उद्यत हुआ हैं; किन्तु धर्मक्षेत्रके प्रभावसे, धर्मभावकी प्रबलतासे, धर्मशास्त्रकी प्रधानताका अनुसन्धान कर उन अर्थशास्त्रके वाक्योंको त्याग करनेके लिए उद्यत हुआ है। मानवजीवनके चार पुरुषार्थ हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अर्थसे कामकी और धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। धर्म मोक्षका कारण तो है ही; किन्तु धर्मके पालनसे ही काम और अर्थकी भी प्राप्ति होती है। अतएव पुरुषार्थचतुष्टयमें धर्म पुरुषार्थ सबके लिये आवश्यक हैं। धर्मकी आवश्यक्ता और महत्ता हमारे त्रिकालदर्शी महात्माओंने खूब समझायी हैं। अर्थकाम केवल इस लोकके क्षणिक सुखोंके कारण है; किन्तु धर्म इस लोकके लिये और परलोकके लिये भी परमोपकारो है। अर्जुन धर्मानुयायी है। धर्मरक्षक भगवान् श्रीकृष्णका भक्त है। धर्मक्षेत्रमें उपस्थित हुआ है, ऐसे अवसरपर उसके हृदयपर धर्मका पूर्ण प्रभाव पड़ रहा है। इसीसे वह धर्मशास्त्रको यादकर अर्थशास्त्रको गौण सम-झानेके लिए उद्यत हुआ है। स्मृतिशास्त्रमें अर्थकी तथा धर्मकी बातें कही गयीं हैं; और उन सबका पालन करना उचित है; किन्तु धर्मकी बातें अर्थकी अपेक्षा अधिक आदरणीय है। अर्थ शास्त्रके अनुसार कौरवोंका वध क्षात्रधर्मानुमोदित होने पर भी धर्म शास्त्रके बचनोंके अनुसार कौरवोंका वध करना सर्वथा त्याज्य है।

शास्त्रोंमें-विरोधपरिहार प्रकरणमें निम्न बातें ध्यान देने योग्य है ।

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥

दो स्मृतियोंका विरोध हो तो व्यवहारसे देखनेपर न्याय ही बलवान् होगा और अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र बलवान् होगा, ऐसी व्यवस्था की गयी है । अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र श्रेष्ठ है, क्योंकि आस्तिक लोगोंके लिये अर्थकी अपेक्षा धर्म ही आदरणीय है । अर्थ केवल इस लोकके सुखोंके लिए है, और धर्म इस लोक तथा परलोकके सुखोंका कारणभूत है ।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यच्च गच्छति ॥

धर्म ही हमारे अभ्युदय और निश्रेयसकी सिद्धिमें कारणभूत है । नारायण उपनिषद्में लिखा है कि—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्म्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति
धर्म्मेण पापमपनुदति धर्म्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

धर्म समस्त संसारकी स्थितिका मूल है । संसारमें लोग धर्मात्माका अनुशरण करते हैं, धर्मसे पाप दूर होता है, धर्मके द्वारा ही सारा संसार स्थित है इस लिए धर्म ही परम पदार्थ कहा गया है ।

उन्नतिं निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्त्यन्ते परं पदम् ॥

धर्मके द्वारा ही समस्त जीव कर्मोन्नतिलाभ करते हुए अन्तमें परमपदको प्राप्त करते हैं । धर्मप्राण अर्जुन इन सब बातोंको

समझकर धर्मके सामने अर्थको तुच्छ समझता हुआ अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्रको अपने लिये हितकारी मानता है और धर्मशास्त्रके वचनों पर ध्यान देकर इस युद्धको अधर्म मान कर युद्धसे उपराम होना चाहता है। धर्मके निर्णयके लिये मनुके निम्न वाक्यसे इस कर्मको अधर्म मानता है। स्वजन वध रूप कर्म अधर्म है यह उसने समझा है। धर्मके लक्षणके सम्बन्धमें मनु महाराज लिखते हैं कि—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेद, स्मृति सदाचार और आत्मतुष्टिका जो कार्य्य है, वह धर्म है। अर्जुनकी वर्तमान दृष्टिके अनुसार यह कार्य्य वेदानुसार नहीं है, स्मृति सम्मत नहीं है, शिष्टाचार सम्मत्त नहीं है और इष्ट कर भी नहीं है, अतएव यह कार्य अधर्म है। अर्जुन

न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानि।
स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्॥

किसी प्राणिकी हिंसा न करनी। वह परम पापी है जो अपने कुलका नाश करता है। ऊपरोक्त धर्मशास्त्रके बलवान् वचनोंके अनुसार कुलनाशका पाप और जीवहिंसाका पाप उभय पाप एक साथ होनेके भयसे अर्जुन कहता है कि अर्थ शास्त्रके वचनोंके अनुसार आततायी शत्रु वध योग्य हैं; किन्तु धर्मशास्त्र के वचनानुसार इन आत्मीयजन आततायी होने पर भी वध करने योग्य नहीं। मैं धर्मशास्त्रके उपदेशानुसार चलना चाहता हूं।

अर्जुनने भगवानको यहां पर माधव शब्दके द्वारा सम्बोधन किया है। इसका भाव भी उत्तम है। मा—लक्ष्मी और धव—पति अर्थात् लक्ष्मीपति-श्रीपति आप हैं फिर मुझे बन्धुबान्धव हीन और श्रीहीन होनेके लिये उपदेश क्यों करते हैं ? स्वजनोंका वध करके मैं श्रीहीन हो जाऊँगा फिर मुझे सुख किस प्रकार प्राप्त होगा ? यह आप ही विचारिये ।

माधव शब्दका भावार्थ इस प्रकार शास्त्रोंमें लिखा है ।

मायायाः श्रियः धवः पतिः माधवः ।

मा अर्थात् लक्ष्मीजीके धव अर्थात् पति होनेसे भगवान् माधव हैं । अथवा—

मधुविद्यया बोध्यत्वाद्वा माधवः ।

बृहदारण्यक श्रुतिमें वर्णित मधुविद्या द्वारा जानने योग्य होनेके कारण भगवानका नाम माधव है ।

मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत ! माधवम् ।

महाभारत उद्योगपर्व ४० अध्याय ७० श्लोकमें व्यासजीका वचन है कि हे भारत ! मौन, ध्यान और योगसे तुम भगवान् माधवको जानकर शाक्षात्कार करो ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको यहां पर अर्जुनने माधव शब्दका सम्बोधन क्यों दिया है, इसके सम्बन्धमें एक टीकाकार लिखते हैं कि आप लक्ष्मीके स्वामी हैं अतः मुझको अलक्ष्मीक कर्ममें प्रवृत्त करना आपके लिये उचित नहीं। माधव शब्द अनेक स्थलोंमें भगवान्का नाम प्रसिद्ध है उदाहरणार्थ कथाकी समाप्तिमें हम लोग कहते हैं कि—

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपीकावल्लभं श्रीजानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥

अच्युत कहो, केशव कहो, राम कहो, नारायण कहो, कृष्ण कहो, दामोदर कहो, वासुदेव कहो, श्रीधर, माधव गोपिकावल्लभ अथवा जानकीनायक श्रीरामचन्द्र कहो एक ही तत्त्व है एक ही भगवान् हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

यद्यपि लोभोपहतचेतसः (लोभेन उपहतं भ्रष्टविवेकं चेतो येषां ते) एते (दुर्योधनादयः) कुलक्षयकृतं दोषम् मित्रद्रोहे च पातकं न पश्यन्ति (तथापि) हे जनार्दन! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् (बन्धुवधफलयुद्धरूपात्) निवर्तयितुं कथं न ज्ञेयम्। (निवृतावेवबुद्धि कर्तव्येत्यर्थः) ३७, ३८ ॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (यदि) लोभोपहतचेतसः (राज्य लोभ से भ्रष्ट बुद्धि) एते (ये सब कौरवगण) कुलक्षयकृतं दोषम् (वंश नाशसे उत्पन्न दोष) मित्रद्रोहे च पातकम् (तथा आत्मीयवधसे उत्पन्न पापको) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं) हे जनार्दन! (हे कृष्ण!) कुलक्षयकृतं दोषं (कुलक्षयसे उत्पन्न दोषको) प्रपश्यद्भिः अस्माभिः (देखनेवाले हम लोगोंके द्वारा) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्त्तितुं (निवृत्त होनेके लिये) कथं न ज्ञेयम् (क्यों नहीं ये सब पाप जानने योग्य हैं)

सरलार्थ—राज्यलोभसे भ्रष्ट चित्त होकर यद्यपि कौरवगण कुलक्षयसे क्या क्या दोष होता है और कुटुम्बनाशसे क्या क्या पाप होता हैं ये सब नहीं देख रहे हैं, तथापि हे जनार्दन! हम जब इन दोषोंको देख रहे हैं, तब इस पापसे निवृत्त होनेके लिये हम क्यों न इस बातको समझे ?।

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

अर्जुन धर्मात्मा है, वह अन्य किसीसे भयको प्राप्त न हो कर पापसे भय पा रहा है। अर्जुनने पूर्व श्लोकमें कहा कि "अस्मान् पापमेवाश्रयेत्" हमें पाप लगेगा। कदापि भगवान् यह कहें कि जिस कार्यमें तुम्हें पापका भय है उस कार्यमें तुम्हारे विरोधी लोग तो पाप नहीं मानते तुम पाप! पाप! क्यों करते हो? अर्जुन इस विषयका प्रथमसे ही अपने विचारानुसार समाधान करता है कि भगवन्! वे लोग राज्य लोभसे भ्रष्ट चित्त हो रहे हैं इसलिये वे इसमें पाप न देखें; किन्तु हमें तो इस आत्मीय जनवधरूप युद्धकार्यमें पाप ही लगेगा यह हम बराबर देख रहे हैं। अर्जुन क्षत्रिय है, क्षात्रधर्मको जानता है। क्षत्रियका धर्म है कि बुलाये जाने पर क्षत्रिय युद्धमें अवश्य जांय; किन्तु इस युद्धमें कुटुम्बनाशके द्वारा वंशका नाश होगा जिससे अनेक प्रकारके भावि दोषोंकी भी उत्पत्ति होगी, अतएव ऐसा पापकर्म कदापि नहीं करना चाहिये। अर्जुन इन बातोंको खूब समझ रहा है। दूसरे पक्षके लोग राज्यलोभसे विवेकहीन हो रहे हैं इसलिये ये सब दोष तथा पाप उन्हें नहीं दिखते! अर्जुन जिसे स्पष्ट पाप मानता है, उसे वह सर्वथा करना नहीं चाहता। दैवी सम्प-

तिवाले लोग हमेशां पापसे भय पाते हैं। पापके कारण, पापके लक्षण और पापके परिणामका विचार रखनेवाले धर्मात्मा लोग लोभाभिभूत नहीं होते। प्रायः काम, क्रोध और लोभ ये नरकके द्वार रूप पाप अन्य विविध पापोंके कारणभूत है। लोभी मनुष्यका चित्त भ्रष्ट हो जाता है। नीतिशास्त्रोंमें लिखा है कि–

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥

लोभ पापका आधार है, लोभ ही पापकी प्रसूति अर्थात् पापको पैदा करनेवाली है, लोभ ही द्वेषक्रोधादिको पैदा करता है। लोभ पाप मात्रका कारण है।

लोभात् क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥
मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥
लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृष्णार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥

लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे द्रोह, द्रोहसे अत्यन्त चतुर और विद्वान् प्राणी भी नरकको जाता है। लोभ वश होकर मनुष्य अपने माता, पिता, पुत्र, बन्धुवर्ग अथवा अपने परम स्नेही पुरुष, अथवा स्वामी, सहोदर भ्राताको भी मारता है। लोभसे बुद्धि चलित हो जाती है, लोभ तृष्णाको उत्पन्न करता है और तृष्णार्त मानव इस लोकमें और परलोकमें दुःख को प्राप्त होता है।

"लोभश्चेदयशेन किम्" महाराज भर्तृहरिजी लिखते हैं कि यदि मनुष्यमें लोभ है तो उनको अपयशसे क्या प्रयोजन है? लोभीका कहां पर भी यश नहीं होता उनका सर्वत्र अपयश ही होता हैं। लोभ नरकका द्वार है, लोभ अनेक दुःखोंका भी कारण है इन बातोंको अर्जुन जानता हैं। द्रोणाचार्य गुरु हैं; किन्तु निजपुत्र अश्वत्थामामें अत्यन्त आसक्ति होनेसे उसको खीर खिलानेके निमित्त एकान्त और पवित्र अरण्य निवासको तथा शान्ति एवं ईश्वरके स्मरणको छोड़कर द्रुपदसे अपना मनोरथ पूर्ण न होनेसे उनके प्रति क्रोधित होकर हस्तिनापुरके राज्यका आश्रय स्वीकार किया। अपनी शान्ति और आदर्श ब्राह्मणधर्मको त्यागकर परमप्रपंची आसुरी प्रकृतिवाले दुष्ट दुर्योधनका संग स्वीकार किया। लोभके वश होकर उस समयके दुष्ट राजकर्ताका आखिर तक साथ दिया! भगवान् और धर्मराजके विरुद्धपक्षमें रहे, यही नहीं अपने प्रिय शिष्य अर्जुनके सामने शस्त्र उठाये! हाय लोभ! तेने द्रोणाचार्य समान आचार्यको भी नहीं छोड़ा! कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा अन्य कई ब्राह्मणोंने लोभ और शारीरिक सुखके लिये भगवान् तथा धर्मका सामना किया। पितामह भीष्म ब्रह्मचारी थे, सत्यवादी थे, धर्मके तत्वोंके वेत्ता और वक्ता थे वे भी अर्थके दास बनकर तिमिंगलकी उपमा प्राप्त कर अन्याय पक्षमें रहे और अन्यायीके साथ ही अपना भी नाश करवाया! कर्णकी उदारता प्रसिद्ध कही जाती है; किन्तु उनको भी दुर्योधनने विविध प्रकार प्रलोभन देकर अपने पक्षमें रखा और भगवानने कहा, कुंताजीने कहा और उसको निश्चय

हो गया कि पाण्डव मेरे भाई हैं, पाण्डव न्यायी हैं; किन्तु अब क्या किया जाय? मैं दुर्योधनके उपकारोंसे उसकी दी हुई राज्य-सम्पत्तिके भारसे दबा हुआ हूं। प्रिय पाठक! लोभने ऐसे देवांशी महापुरुषोंको भी नहीं छोड़ा, फिर आप और हम पामर-जन क्या होते हैं जो इस लोभको छोड़ सकें? फिर भी प्रयत्न करें लोभमें अनेक पाप रहे हुए हैं इस विषयमें महाभारतका एक प्रसंग देकर इस विषयको यहां स्पष्ट करता हूं। लोभमें ही पाप रहता है लोभीका संग त्यागकर सत्पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। श्रीपरमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये कि प्रभो! हमको लोभसे बचाओ तथा लोभीके संगसे भी बचाओ!

"पितामह भीष्म शरशय्या पर पड़े हुए हैं चारों ओर ऋषि-मण्डली बैठी हुई है। धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका तत्त्व पूछ रहे हैं और पितामह उन्हें बतला रहे हैं। बहुतसी बातें जान लेनेके बाद युधिष्ठिरने कहा कि 'हे पितामह! पाप कहां रहता है? और उसकी उत्पत्ति किससे होती है? कृपापूर्वक इसका रहस्य मुझे बतलाइये।' पितामह बोले—हे धर्मराज! मैं तुझे पापके रहनेका स्थान बतलाता हूं तू मन लगाकर सुन! लोभ एक बड़ाभारी ग्राह है इसीसे पापकी उत्पत्ति होती है। पाप, अधर्म, सबसे बड़े दुःख और कपटकी जड़ लोभ ही है। लोभसे ही मनुष्य पाप करते हैं। काम, क्रोध, मोह, माया, मान, पराधीनता, क्षमाहीनता, निर्लज्जता, दरिद्रता, चिंता और अपयश आदि लोभसे ही उत्पन्न होते हैं। भोगोंमें आसक्ति, अतितृष्णा, बुरे कर्म करनेकी इच्छा, कुल-विद्या-रूप-धनका मद, समस्त प्राणियोंसे

वैर, सबका तिरस्कार, सबका अविश्वास, सबके साथ टेढ़ापन, परस्त्री-गमन, वाणीसे चाहे सो बक उठना, मनमें चाहे सो सोचना, किसीकी भी निन्दा करने लगना, कामके वशमें हो जाना, पेटपरायण होना, बिना मौत मरना, ईर्ष्या (डाह) करना, झूठ बोलनेको मजबूर होना, जीभके स्वादके वशमें होना, बुरी बातें सुननेकी इच्छा करना, परनिन्दा करना, अपनी बड़ाई मारना, मत्सरता, द्रोह, कुकार्य, सब तरहके साहस और न करने योग्य काम भी कर बैठना आदि अनेक दुर्गुणोंकी लोभसे ही उत्पत्ति होती हैं। जन्मसे लेकर बुढ़ापेतक किसी भी अवस्थामें लोभका त्याग करना कठिन हैं। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है; परन्तु यह लोभ बूढ़ा नहीं होता। गहरे जलसे भरी हुई नदियोंका जल समुद्रमें मिल जाता है परन्तु जैसे उस जलसे समुद्र तृप्त नहीं होता इसी प्रकार चाहे जितना धन प्राप्त हो जानेपर भी लोभ तृप्त नहीं हो सकता। लोभी मनुष्यकी कामना कभी पूरी होती ही नहीं। लोभके स्वरूपको देव-दानव, मनुष्य और कोई भी प्राणी ठीक ठीक नहीं जानते। मनस्वी पुरुषको उचित है कि वह ऐसे लोभको पूर्णरूपसे जीतलें। मनको वशमें न रखनेवाले लोभी मनुष्योंमें द्रोह, निन्दा, हठीलापना और मत्सरता आदि दुर्गुण अधिकतासे देखनेमें आते हैं। अनेक शास्त्रोंको जाननेवाले, दूसरोंकी शंकाका समाधान करनेवाले बहुश्रुत पण्डित भी लोभके वशीभूत होकर संसारमें कष्ट ही पाते हैं। लोभी मनुष्य सदैव द्वेष और क्रोधमें डूबे हुए होते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंके शिष्टाचारसे वे सर्वथा भ्रष्ट हो जाते हैं। उनके हृदयमें क्रूरता और वाणीमें

मिठास भरा रहता है। भोले भाले लोग घाससे ढके हुए कूएं की तरह प्रायः उनसे धोखा खा जाते हैं। वे धर्मका वेश बनाकर दूसरोंके मनको दुःखानेवाले, धर्मका ढोंग रचनेवाले, अनुदार और विश्वासघातक होते हैं। वे युक्तियोंके बलसे (शास्त्र-वचनोंका मनमाना अर्थ करके) अनेकों मार्ग खड़े करके लोभके वशीभूत होकर सत्पुरुषों द्वारा स्थापित धर्ममार्गका नाश कर देते हैं। उनके स्वार्थके कारण संसारकी व्यवस्थामें उलटफेर मच जाता है और लोग भी उनकी देखादेखी अधर्माचरण करने लगते हैं। हे युधिष्ठिर! दर्प, क्रोध, मद, हर्ष, शोक, अति अभिमान ये सब दुर्गुण लोभी मनुष्योंमें देखनेमें आते हैं ऐसे पुरुषोंको सदैव कुटिल जानकर उनसे बचना चाहिये"। इत्यादि।

मनुमहाराजके निम्न बचनोंको यादकरके अर्जुन और भी इस युद्धसे उपराम होना चाहता है।

> ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
> बालवृद्धातुरैर्वैद्यजातिसम्बन्धिबान्धवैः॥
> मातापितृभ्यां यामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
> दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥

अर्थात् ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, जाति, वैवाहिक, कुटुम्ब, माता, भगिनी, भ्राता, पुत्र, स्त्री, कन्या, एवं दासवर्गके साथ विवाद न करें।

अर्जुनने देखा कि इस समरांगणमें द्रोणाचार्य कृपाचार्य प्रभृति आचार्य, शल्य शकुनि प्रभृति मातुल, लक्ष्मण और तदीय

पुत्र प्रभृति बालक भीष्म प्रभृति वृद्ध धार्तराष्ट्रगण ज्ञाति जयद्रथ प्रभृति कुटुम्ब उपस्थित हैं । जिनके साथ सामान्य विवाद विरोध पर्यन्त शास्त्रनिषिद्ध है वैसे व्यक्तियोंके शरीरपर अस्त्र शस्त्र प्रहार कर उनके प्राणोंका संहार करना इस युद्धका उद्देश्य है अतएव अर्जुन भगवान्से कहता है कि हे प्रलयकारिन् ! हे जननाशर त्तणत्तम, परमेश्वर ! दुर्योधनादि हमारे प्रतिपत्तिगण राज्यलोभ से अत्यन्त प्रलुब्ध होकर हिताहित और धर्माधर्मज्ञान शून्य हो रहे हैं इस लिये वे कुलत्तय और मित्रद्रोहजनित अवश्य भावी पापकी वार्ता हृदयंगम नहीं कर सकते । अपनी केवल लोभवृत्तिकी चरितार्थता सम्पादन करनेकी वासनासे न्याय और धर्मसंगत वाक्यकी ओर ध्यान न देकर सुहृद् और स्वजन विनाश रूप अतिगर्हित पापकार्यमें वे प्रवृत्त हो रहे हैं; किन्तु हमारे मनमें तो दृढ़ निश्चय हो गया है कि कुलके त्तयसे पाप लगता है और मित्रके द्रोहसे पापही होता है । "शठे सत्यं समाचरेत्" और "न पापे प्रतिपापः स्यात्" इत्यादि वचन स्मृतिगत हो आये । अर्जुनका हृदय साधुभावसे परिपूर्ण हो रहा है । नीतिशास्त्रमें उत्तम पुरुषोंके जो लत्तण कहे हुए हैं । उनका अर्जुन अनुसंधान करता है । नीतिशास्त्रमें लिखा है कि—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

उपकार करनेवालोंके साथ साधुता करनेमें साधुताका गुण क्या है ? अपकार करनेवालोंके साथ जो साधुता दिखाता है उसे ही साधुपुरुष साधु कहते हैं । चन्दन पुष्पका धर्म है सुगन्ध देना

वह काटनेवाले, घीसनेवाले और जलानेवालेको भी अन्ततक सुगन्ध देतेजाते हैं। सन्त पुरुष सभीमें समानव्यवहार रखते हैं।

अब कोई यह कहे कि 'आहुतो न निवर्तेतद्युतादपि रणादपि' अर्थात् आहवान मिलनेपर क्षत्रिय द्युतक्रीड़ा और युद्धसे निवृत्त न हों ऐसी विधि कहांपर देखी जाती है; किन्तु जिस कार्यका परिणामफल ज्ञातिवध हैं वैसा कार्य करनेके लिये धर्म शास्त्र अनुमोदन नहीं देता। बहुतसे शास्त्र संगत कार्यों में भी पाप रहा है। अथर्ववेदमें भी शत्रुके नाशके निमित्त श्येनहनन रूप अभिचार विधि है 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' किन्तु अपने स्वार्थ के लिए निरपराधी श्येनपक्षीका वध करना पाप ही है। किसी भी अवस्थामें स्वजन संहार करना महान् पाप है यह अर्जुनके हृदयका भाव है। कुलके क्षयसे अनेक प्रकारके पाप लगते हैं। कुलक्षयसे कुलमर्यादा नष्ट होती है, कुलमें विविध प्रकारके विकार उत्पन्न होते हैं; कुलमें कलंक लगता है, ये तो लोभके मारे अन्धे हो रहें हैं जिससे वे इन पापोंको नहीं देखते हम तो इन समस्त पापोंको जानते हैं। यहां पर कुलके लोग एकत्र हुए हैं इसी प्रकार मित्रगण भी एकत्र हुए हैं। 'मित्र द्रोहे च पातकम्' मित्र के द्रोह करनेसे पाप लगता है। मित्रगण अनादर या वध योग्य नहीं हैं। संसारमें मित्रके समान अन्य कौन रत्न हैं? नीतिशास्त्रमें लिखा है कि;

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥

शोक और शत्रु भयसे रक्षा करनेवाला, प्रीति और विश्वास

का पात्र मित्र है इन दो अक्षरवाले (मित्र) रत्नको किसने रचा है? देखिये सन्मित्रके लक्षण—

पापन्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गुहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतंच न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

मित्र अपने मित्रको पापसे रोकता है, हितकार्यमें लगाता है, गुप्त बातोंको छिपाता है, गुणोंको प्रकट करता है, आपत्तिकालमें साथ नहीं छोड़ता और समय पड़नेपर यथाशक्ति द्रव्यादि द्वारा सहायता करता है उसको सन्त पुरुष सन्मित्र कहते हैं।

महाराज भर्तृहरिजीने लिखा है कि;—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्तापुरा तेऽखिलाः।
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः॥
गन्तु पावक मुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदम्।
युक्तं तेन जलेन साम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥

दूधमें जब जल मिलगया अर्थात् जलने जब दूधसे मित्रता की तब उस दूधने अपने सब गुण और रूपादि अपने मित्रको बराबर दे दिये। दूधसे जलको जलाने अथवा पृथक् करनेके लिए दूधवालोंने जब अग्निपर धरा तो अपने मित्रको जलता देख दूध उछलकर आगमें जलकरके प्राण देनेको तैयार हुआ किन्तु जाते हुए दूधको देखकर दूधवालेने उस दूधमें जलकी अंजलि दी तो मित्रको पाकर दूध शान्त हो गया। सत्पुरुषोंकी मैत्री दूध जलके समान होती है। भगवन्! मित्रोंका नाशकर हम जीना नहीं चाहते फिर जानबुझकर मित्रका संहार मैं किस प्रकार करूँगा? नीतिशास्त्रमें लिखा है कि;—

यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ।

जिसको मित्रके साथ वार्तालाप करनेका शुभावसर प्राप्त है उसके समान संसारमें कोई पुण्ययुक्त नहीं है ।

मित्रद्रोही और कृतघ्नीकी निष्कृति नहीं हैं । मित्रका द्रोह करने वाले लोकमें दरिद्री बनकर कुष्टादि रोगसे पीड़ित होते हैं और परलोकमें नरकाग्निमें जा पड़ते हैं भगवन् ! कुलक्षयकृत दोष और मित्र द्रोहके पापसे मैं काँप रहा हूं । मैं यह पाप सर्वथा न करूंगा ॥ ३७, ३८ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

कुलक्षये सनातनाः (परम्परा प्राप्ताः) कुलधर्माः (कुलोचिता धर्माः) प्रणश्यन्ति (कतुं रभावात्) उत (अपि) धर्मे नष्टे (अग्निहोत्रा-

ध्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन) कृत्स्नम् (अपि कुलम्) (अवशिष्टं बालादिरूपम्) अधर्मः अभिभवति (प्राप्नोति) । हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति (अधर्म एव ता व्यभिचारे प्रवर्तयति । हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु (वर्णान्तरमुपासीनासु) वर्णसंकरः जायते । संकरः (वर्णसंकरः) कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति) हि (यस्मात्) एषाम् (कुलघ्नानाम्) पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (लुप्ताः पिण्डस्य उदकस्य च क्रिया येषां ते सन्तः नरकायैवेत्यनुषङ्गः) पतन्ति । कुलघ्नानाम् एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः (सनातनाः) जातिधर्माः (वर्णधर्माः) कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते (लुप्यन्ते) (चकारात् आश्रमधर्मादयोऽपि गृह्यन्ते ॥ हेजनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणाम् (उत्सन्नजातिधर्मादीनामप्युपलक्षणम्) नियतम् नरके वासः भवति इति अनुशुश्रुम (श्रुतवन्तो वयं आचार्यमुखात् । ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ ॥

अन्वयार्थ—कुलक्षये (कुलका क्षय होनेपर) सनातनाः (सदा के चले हुए) कुलधर्माः (परम्परा प्राप्त कुलके धर्म समूह) प्रणश्यन्ति (करनेवालेके अभावसे नष्ट हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट होनेपर) अधर्मः (पाप) कृत्स्नं उत (समस्त ही) कुलं (कुलको) अभिभवति (ग्रासकर लेता है) । हे कृष्ण! (हे कृष्ण!) अधर्माभिभवात् (अधर्मके द्वारा कुलके ग्रस्त होने पर) कुलस्त्रियः (कुल की स्त्रियां) प्रदुश्यन्ति (बिगड़ जाती हैं)। हे वार्ष्णेय! (हे यदुवंशोद्भव कृष्ण!) स्त्रीषु दुष्टासु (स्त्रियोंके बिगड़ जानेपर) वर्णसंकरः जायते (वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है) । कुलस्य संकरः (कुलमें उत्पन्न संकर प्रजा) कुलघ्नानां (कुलनाशकोंके) नरकाय एव भवति (नरकका कारण बन जाता है) एषां पितरः हि (कुल नाशकोंके पितर भी) लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (श्राद्ध तर्पण क्रियाके लोपसे) पतन्ति (पतित हो जाते हैं)। कुलघ्नानां (कुल

नाशकोंके) वर्णसंकरकारकैः (वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले) एतैः दोषैः (इन दोषोंसे) जातिधर्माः (क्षत्रियादि जातिके धर्म) कुलधर्माश्च (और कुलके भी धर्म) उत्साद्यन्ते (नष्ट हो जाते हैं) हे जनार्दन! (हे जनार्दन!) उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां (जिनके कुल धर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्योंका) नियतं (सदा के लिए) नरके (नरकमें) वासः भवति (निवास होता है) इति अनुशुश्रुम। (ऐसा आचार्य परम्परासे हमने सुना है)। ३६, ४३।

सरलार्थ–कुलका क्षय होनेपर करनेवालेके अभावसे परम्परा प्राप्त अग्निहोत्रादि कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्मके नाशसे अधर्म द्वारा अवशिष्ट समस्त कुल ग्रस्त हो जाता है। अधर्मकी इस प्रकार प्रबलता होनेपर रक्षाके अभावसे कुलस्त्रियों का चरित्र दोष हो जाता है, जिस कारण व्यभिचारादि द्वारा कुलमें वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती है कुलमें इस प्रकार संकरदोष कुलनाशकों के नरकका कारण बन जाता है और उनके पितर भी श्राद्ध–तर्पणादिके अभावसे पतित हो जाते हैं। इस प्रकारसे कुलघातकोंके वर्णसंकरकारी दोषोंके द्वारा परम्परा प्राप्त जाति धर्म और कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं। हे जनार्दन! लुप्तकुलधर्मी मनुष्योंका अनन्तकाल तक नरकवास होता है, आचार्योंके मुखसे हमने यही सुना है। ३६, ४०, ४१, ४२, ४३।

श्रीगीतार्थप्रकाश।

अर्जुन धर्मात्मा है, पापसे भयभीत हो रहा है। मैं हिंसारुप पापसे युक्त हुँगा और इससे नरकमें जाऊँगा इतना ही मात्र उसको विचार नहीं है वह अपने कुलकी स्त्रियोंका अकल्याण न

हो, वे दुष्ट न बनें, सन्तति शुद्ध बनी रहे और पितृगणका भी पतन न हो ये सब विचार उसको इस समय युद्धसे विमुख कर रहे हैं । अर्जुनके यह विचार सामयिक नहीं हैं, ये विचार युद्ध-भूमिमें जाकर करने योग्य नहीं हैं, अन्यायी आततायी दुष्टोंको तथा उनके पक्षपातियोंको इन विचारोंसे और भी अन्यायपूर्ण दुष्टकार्य करनेका अवसर देना है तथा क्षत्रिय होकर युद्धावसरमें दुष्टोंके दण्डके अवसरपर ऐसे ममताके तथा दयाके विचार करें तो उसका प्रभाव संसारके ऊपर बड़ा ही बुरा पड़ता है । एक स्त्रीने हत्या की है, वह सुकुमारी है, सुन्दरी है उसके जीनेसे वह सन्तति भी पैदा कर सकती है, उसमें कई उत्तम एवं उपयुक्त गुण भी हैं; किन्तु यदि उसे प्राणदण्ड न दिया जाय, उसपर दया की जाय तो उसका संसार पर क्या प्रभाव पड़ेगा? स्त्रियां स्वयं हत्यायें करने लगेगीं अथवा पुरुष किसीकी हत्या करना चाहे तो वह स्त्री अवध्य है अतएव उसीके द्वारा हत्या करावेगा अथवा स्त्री हत्याका अपराध अपने ऊपर लेकर अपने आत्मीय पुरुषोंको जो हत्याकारी होंगे उन्हें बचावेगी । एक स्त्रीके ऊपर दया किंवा ममताका परिणाम कितना भयानक होगा यह कल्पना कीजिये । इसी प्रकार जो दुष्ट हैं, पापी हैं उनके ऊपर ममता और दया रखी जाय तो उसका परिणाम क्या होगा संसारका नाश और अशान्ति, इसके शिवाय और क्या हो सकता है? अतएव दुष्टोंका संहार यही कर्तव्य है; किन्तु अर्जुनके विचार सात्विकभावापन्न, दैवीसम्पति युक्त पुरुषोंके समान दीर्घदृष्टि युक्त नहीं हैं ऐसा भी हम नहीं कह सकते । हमें अर्जुनकी दूर-

दर्शिता तथा विचार शक्तिका यहां दिग्दर्शन कराना है और अर्जुन जो युद्धसे उपराम हो रहा है उसमें उसकी कायरता कारणभूत नहीं हैं उसकी सात्विकवृत्ति धर्मविचार एवं शास्त्रीय ज्ञान, प्रभृति कारणभूत हैं। "पापमेवाश्रयेत्" कथं न ज्ञेयमस्माभिः 'पापदस्मान्निवर्तितुम्'। प्रभृति अर्जुनके वाक्योंका भाव ध्यान देने योग्य है। यह युद्धमें जो हिंसा होगी वह मेरे विचारसे पापरूप होगी इसमें अर्जुन निम्न कारण बता युद्धसे विमुख होना चाहता है। अर्जुन क्या कहता है?

१. कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति।
२. धर्मे नष्टे सति अधर्मः कृत्स्नम् कुलं अभिभवति।
३. अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति।
४. दुष्टासु स्त्रीषु वर्णसंकरः जायते।
५. संकरः कुलघ्नानां च कुलस्य नरकाय एव।
६. एषां पितरः लिप्तपिण्डोदकक्रियाः पतन्ति।
७. कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः उत्साद्यन्ते।
८. उत्सन्न कुलधर्माणां मनुष्याणां नरके वासो भवति।

अर्जुनका यह कथन असामयिक होने पर भी और भगवान् तथा अर्जुन जिस कार्यके लिये इस भूतल पर आये हैं उसमें ये विचार अन्तरायरूप होनेके कारण आगे भगवानने अर्जुनको निमित करके साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका संहार, धर्मकी सम्यक् स्थापना कर निजावतारका हेतुभूत कार्य किया है; किन्तु अर्जुनके विचार एक प्रकारसे आस्तिकके विचार हैं। धार्मिक भगवद्भक्तोंके लिये उचित हो वैसे ही ये विचार हैं। अर्जुनने जो युद्धका

परिणाम सोचा है वह सर्वथा मिथ्या नहीं है जो विचार अर्जुनके थे वही विचार यदि दुर्योधनके भी होते तो जो भारतका प्रायः सर्वनाश हुआ वह नहीं होता। एक पक्ष शान्त हो दूसरा अशान्त हो, एक पक्ष पुण्यात्मा हो दूसरा पक्ष पापात्मा हो उस अवस्थामें अशान्त और पापात्माओंको शान्त करनेके निमित्त शान्तिप्रियों को भी कभी अशान्तिका कर्म करनेकी आवश्यकता पड़ती है।

शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात् आदरं प्रति सादरम्।

इत्यादि वाक्य अनुभविजनोंके हैं फिर भी साधु पुरुष अपनी साधुभावनाओंको प्रकट किये विना रह नहीं सकते। गोस्वामी तुलसीदासजीने उचित ही कहा है:—

भले भलाईप लहतही लहत नीचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच॥

हमें अर्जुनका साधुभाव ही इसके वाक्योंसे सिद्ध करना उचित है, उसके साधु हृदयमें कितने गंभीर तथा परिणामादिके विचार युद्धभूमिमें उत्पन्न हुए हैं। हमने प्रथम भी कहा है और अभी भी कहेंगे कि अर्जुन धर्मानुयायी है, धर्मक्षेत्रमें उपस्थित हुआ है और धर्ममूर्ति भगवानका सानिध्य है इन्हीं कारणोंसे वह धर्मशास्त्रकी सर्वमान्य बातोंको यहां कह रहा है। हम अर्जुनके कथनपर संक्षेपमें यहां विचार करेंगे।

अर्जुनने ४३ वें श्लोकमें अपने इन बचनोंके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा है कि मैं जो इस समय आपसे निवेदन कर रहा हूं वह मेरी कपोलकल्पना नहीं है। "इति अनुशुश्रुम"। हमने ऐसा सुना है। श्रुतवन्तो वयम् आचार्यमुखात्। हम आचार्योंके मुखसे ऐसा सुनते आये हैं। क्या सुना है यह ३९ वें श्लोकसे ४३ वें श्लोक

पर्यन्त अर्जुनने भगवानके प्रति स्पष्टरूपसे निवेदन किया है।

"कुलक्षये सनातनाः कुलधर्मा प्रणश्यन्ति" अर्जुनका यह कथन यथार्थ है। अर्जुन दैवी सम्पत्तिको लेकर इस संसारमें आया है। वह सनातन कुलधर्मोंकी रक्षाके लिये अत्यन्त चिन्तित हो रहा है। वह जानता है कि सनातन कुलधर्मोंकी रक्षा करना हमारे लिये आवश्यक है। राष्ट्रकी रक्षा और जातिकी रक्षा कुलधर्मके नाशसे नहीं हो सकती। कुलधर्म, जातिधर्म और राष्ट्रधर्म प्रायः एक दूसरोंकी अपेक्षा रखते हैं, कुलधर्म जातिधर्मका एक विशेष अंग है। कुलके नेताओंकी अकालमृत्यु से, चालक और रक्षकके अभावसे कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्तमान समयमें कुलधर्म प्रायः क्षीण होगये हैं, थोड़ा बहुत है भी तो उसके नाशके लिये वर्तमान समयके स्वधर्म भ्रष्ट विधर्मी विजातीय, विदेशी पुरुषोंके संसर्गसे मलिन बुद्धिवाले अनाचारी सर्वभक्षी लोग कुलधर्म और जातिधर्मको नष्ट करनेके लिये विविध प्रकारसे प्रयत्नशील हो रहे हैं। अवैदिकमतोंके संसर्ग से, तथा अनीश्वरवादी नास्तिकोंके संसर्गसे और स्वधर्मकी शिक्षाके अभावसे हमारे हिन्दू लोग प्रायः पतित होते जाते हैं। वैदिक संस्कार, नित्यनैमित्तिक एवं प्रायश्चित्तादि कर्म लुप्त होते जाते हैं। अग्निहोत्रादि कुलधर्मके पालन करने वाले दुर्लभ हो रहे हैं, यह सब कुलके प्रधान पुरुषोंके न रहने से अथवा उनका अधिक प्रभाव अपने स्त्री-पुत्रादि पर न रहनेसे ही हो रहे हैं। अर्जुन जिस विषयको लेकर रुदन कर रहा है उसी विषयमें हम उदासीन हो रहे हैं और अज्ञान, आलस्य तथा अन्य जातियोंके अधिक संसर्ग

एवं प्रभावसे हम कुलधर्मसे पतित होना पसन्द करते हैं ।

"धर्मेनष्टे कृत्स्नं कुलं अधर्मः अभिभवति" अर्जुनका यह कथन भी उचित ही है । जब कुलधर्म नष्ट होता है तब सम्पूर्ण कुल अधर्म से युक्त हो जाता है, तथा अधर्म की वृद्धिसे कुलकी स्त्रियां दूषित हो जाती हैं और उनसे वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होती हैं । वर्तमानकालमें इन्हीं दोषोंके प्रचारका आन्दोलन हो रहा है । कोई सम्पूर्ण मानवजातिको एक करनेके लिये कहता है, कोई सब जातिके लोगोंके साथ रोटी बेटीका व्यवहार करनेसे ही हम सुखी और स्वतंत्र होंगे ऐसा समझकर इसाई, मुसलमान, पारसी, वगैरह जातियोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेका उद्योग कर रहे हैं तथा देशके कई नेता और साक्षर इस कामको करनेमें गौरव मानते हैं । हिन्दुओंके वर्णभेद जातिभेद एवं कुलभेदको नष्ट भ्रष्ट करनेके लिये आज कितना बड़ा आन्दोलन हो रहा है । अर्जुन कहता है कि "संकरो नरकायैव" वर्णसंकर स्वयं नरकमें जाता है तथा अपने सम्बन्धियोंको भी नरकमें भेजता है । अर्जुनके इस वाक्यके अन्दर उसका शास्त्रज्ञान, शास्त्रश्रद्धा वगैरह स्पष्ट होते हैं । मनुस्मृतिमें लिखा है किः—

यत्र त्वेते परिध्वंशाज्जायन्ते वर्णादूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥
अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यजयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥

इन वचनोंकी उपेक्षा कर वर्तमानकालके कई नेता भारतीय प्रजाकी तथा स्त्री जातिकी पवित्रता तथा स्वधर्मके संहारके लिये प्रयत्नशील हो रहे हैं उन्हें चाहिये कि वे अर्जुनके इन वचनोंपर विचार करें ।

अब "लुप्तपिण्डोदक क्रियाः" इस पर भी कुछ विचार करेंगे। संसारमें लोग पुत्रकी इच्छा अधिकरूपसे रखते हैं, इसका कारण यह है कि पुत्रके द्वारा दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। एक इस लोकमें वंशरक्षा, दूसरा पिण्डोदकादिके दानसे परलोकगत पितृगणकी तृप्तिविधान। यह तभी हो सकता है जब पुत्र अपने ही क्षेत्रमें अपने ही शुक्र वीर्यसे उत्पन्न हुआ हो। स्त्री व्यभिचारिणी होनेसे यह द्वितीय प्रयोजन सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मनु महाराजने स्पष्ट लिखा है कि:—"शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंशजा स्मृताः" अपध्वंशज अर्थात् वर्णसंकर शूद्रके समान धर्मी कहे गये हैं। द्विजातिके यहां ऐसी धर्मवाली प्रजा उत्पन्न होनेसे वह विजातीय प्रजा मानी जायगी और विजातीयके दिये हुए पिण्डोदकादि पितृगण स्वीकार नहीं कर सकते, जिससे वे नरकगामी होंगे। इस प्रकारके व्यभिचारजात वर्णसंकरको समाज तथा कानून पुत्ररूपसे नहीं मान सकता। जो लोग वर्णान्तर लग्न करते हैं तथा वर्णान्तर लग्नका अनुमोदन करते हैं वे आर्यशास्त्रकी मर्यादाके नाशक हैं, आर्य संस्कृतिके संहारक हैं, आर्यदेशकी अधोगति करनेवाले हैं। अतएव नरजातिके प्रधान प्रतिनिधि भक्त अर्जुनके विचारोंका इस विषयमें हम अनुमोदन करते हैं।

श्राद्धकी आवश्यकता जो अर्जुन यहांपर बतलाता है वह शास्त्रसिद्ध तथा विज्ञानसिद्ध है महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं:—

नास्तिक्यभावात् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः।
पिबन्ति देह निःस्रावं पितरो वै जलार्थिनः॥
प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

अहो बत (बृहत् कष्टम्) वयं महत् पापं कर्तुम् व्यवसिताः यत् (यस्मात्) राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुम् उद्यताः यदि अप्रतीकारम् (अकृतप्रतीकारम् तुष्णीं उपविष्टम्) अशस्त्रम् (स्वप्राणत्राणाय व्यापारं अकुर्वाणम्) मां (शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः रणे हन्युः (हनिष्यन्ति) तत (हननम्) मे (मम) क्षेमतरं (अत्यन्तं हितम्) भवेत् । ४४, ४५ ॥

अन्वयार्थ—अहोबत (अहो महान् कष्ट है) वयं (हम सब) महत्पापं कर्त्तुं (महापाप करनेको) व्यवसिताः (उद्यत हुएहैं) यत् (जो कि) राज्यसुखलोभेन (राज्य सुखके लोभसे) स्वजनं (आत्मीय जनको) हन्तुं उद्यताः (मारनेको प्रस्तुत हुए हैं) यदि (यदि, अप्रतीकारं (प्राणरक्षाका उपाय न करते हुए) अशस्त्रं (और शस्त्र न धारण करते हुए) मां (मुझको) शस्त्रपाणयः (हाथमें शस्त्र लेकर) धार्तराष्ट्राः (दुर्योधनादि) रणे (युद्धमें) हन्युः (मार दें) तत् मे (वह मेरे लिए) क्षेमतरं भवेत् (अधिक मंगलकर होगा) । ४४, ४५ ।

सरलार्थ—अहो ! कैसे महापाप करनेको हम तैयार हुए हैं कि सामान्य राज्यसुखके लोभसे भीषण अनर्थकर आत्मीय वधमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इस लिए इस युद्धमें यदि मैं आत्मरक्षाके लिये कोई भी उपाय न करूं तथा शस्त्र धारण भी न करूं और

कौरव गण शस्त्र प्रहारसे मेरा प्राणवध कर जांय तो वही मेरे लिये अधिक मंगलजनक होगा।

श्रीगीतार्थप्रकाश।

अर्जुन समझता है कि राज्यसुखके लोभसे आत्मीयजनोंका वध महत्पाप है। चाहे वे पापी बनकर हमें मार डालें; किन्तु हम उन्हें मारना नहीं चाहते। कुलनाश और उसके परिणामोंके विचारोंसे अर्जुन इतना विह्वल हो गया है कि क्षत्रियधर्मको वह सर्वथा भूल गया है! यही नहीं; किन्तु स्वयं यहां किस कार्यके लिये आया है? यह सब आयोजन किसने किया है? युद्धके लिये स्वयं जाकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको निमंत्रण कर आया है, द्रौपदीके समक्ष उसने क्या क्या प्रतिज्ञायें की है, धर्मराज युधिष्ठिरको युद्धारंभके लिये कितना आग्रह किया है, इन बातोंको तथा दुर्योधन दुःशासन कर्णादिके द्वारा किये हुए सब अपमानोंको भी वर्तमान समयमें भूल गया है। आत्मीयजनोंका मोह इसमें कारण है ऐसा बहुतसे विद्वान् कहते हैं और भगवान् भी स्वयं इसी प्रकार द्वितीयाध्यायके प्रारंभमें कहते हैं और यह कई कारणोंसे ठीक भी है; किन्तु हमें तो अर्जुनका धर्मानुराग और पापसे भय यही यहांपर प्रधान कारण मालूम होता है। चाहे इसमें उसकी भूल भी क्यों न हो। अर्जुन यहां लोभको महापाप समझता है इसीसे उसने इस कार्य करने पर मैं पापी हो जाऊँगा ऐसा वह समझता है। पारलौकिक अनन्त सुखको छोड़कर इस लोकके इन तुच्छातितुच्छ क्षणविध्वंसी विषयसुखोंकी

मैं क्यों स्पृहा करूं ? मैं पापोपार्जित सुखमात्रको नहीं चाहता यह अर्जुनका हृदय है। अपने सुखोंके लिये दूसरोंका वध करना अथवा दूसरोंको दुःख देना यह पाप है ऐसा उसका निश्चय है। शत्रुओंके हाथसे निस्तार प्राप्त करनेके लिये उचित चेष्टाका नाम प्रतिकार है। यहां पर उचित चेष्टा है शत्रुओंका वध; किन्तु ऐसा करना अर्जुनके मतसे पाप है, क्योंकि "अहिंसा परमो धर्मः" अहिंसा परम धर्म है यह शास्त्रवचन है। अर्जुन कहता है कौरवोंके हाथमें शस्त्र है मैं शस्त्र त्याग करूंगा और प्रतिकार भी न करूंगा जिससे वे मुझे मारडालेंगे यही तो होगा, मुझे यह सब स्वीकार है। उनका वध करना इसकी अपेक्षा अपने वधमें मृत्युमें मेरा अत्यन्त कल्याण है। 'क्षेमन्तु स्थितरक्षणम्' पूर्व स्थित वस्तुकी रक्षाका नाम श्रेय है। अर्जुनने यहां यही विचार किया है कि निज मरण और बांधवोंकी रक्षा इसके द्वारा परम्परागत हमारे कुलधर्मादि रक्षित रहेंगे यही 'श्रेय' और मेरे इस प्रकारके त्याग-देहत्यागसे मेरी अपकीर्ति न होगी बस यही मेरे लिये क्षेमतर। मेरे कुलधर्म रहे और मेरी कीर्ति रहे यही मैं चाहता हूं राज्य धन, सम्पत्ति वैभव और शरीर न रहे इस बातकी मुझे चिन्ता नहीं है। वस भगवन! इससे अधिक अब मैं कुछ भी निवेदन करना नहीं चाहता। भगवन! लोग मुझे क्या कहेंगे, आत्मीय-जन क्या कहेंगे, मेरा क्या होगा, शत्रुपक्षके लोग क्या कहेंगे इन सब बातोंका मैं इस समय विचार न करूंगा, बस भगवन्! मैं युद्ध न करूंगा। मैं लोभाभिभूत होकर आत्मीयजन और पूज्यजनोंका वध न करूंगा। भगवन्! मैं पापसे डरता हूं इस

युद्धमें होनेवाली हिंसाका तथा उसके परिणामोंका विचार करते मेरा कलेजा कांपता है ! भगवन्! मैं अब हथियार हाथमें नहीं रख सकता ! मैं खड़ा नहीं रह सकता ! ४४, ४५ ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

सञ्जय उवाच ! एवं उक्त्वा अर्जुनः शोकसंविग्नमानसः (शोक-मोहाभ्यां परिभूतमानसः सन्) संख्ये (युद्धमध्ये) सशरं चापम् विसृज्य (शरेण सहितं गाण्डीवं त्यक्त्वा) रथोपस्थ (रथोपरि) उपाविशत् (उपविष्टवान्) ॥४६॥

अन्वयार्थ—अर्जुनः (अर्जुन) एवं उक्त्वा (ऐसा कह कर) संख्ये (युद्धमें) सशरं चापं (बाण सहित गाण्डीव धनुषको) विसृज्य (फेंककरके) शोकसंविग्नमानसः (शोकसे व्यथित चित्त हो) रथोपस्थ (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गया) ॥४६॥

सरलार्थ—संजयने धृतराष्ट्रसे कहा श्रीकृष्णको इस प्रकारसे कह कर अर्जुनने धनुष बाण फेंक दिया और शोकसे अत्यन्त व्याकुल चित्त हो युद्ध क्षेत्रमें रथपर बैठ गये ॥४६॥

श्रीगीतार्थप्रकाश ।

महाभारतके भीष्मपर्वके अन्तर्गत भगवद्गीताका एक पर्वाध्याय है। उसके २५ वें अध्यायसे भगवद्गीताका प्रारंभ होता है। इस अध्यायका नाम "अर्जुन विषादयोग" है। कुछ विद्वान् "सैन्यदर्शन-अर्जुन-विषादयोग" भी इसे कहते हैं। कुरुक्षेत्रके

युद्धारंभके पूर्वमें अर्जुन उभय पक्षकी सेनाको देखकर और युद्धमें आत्मीय-स्वजनवध अपरिहार्य जानकर विषादित और शोक युक्त हुआ था और बन्धुवधके द्वारा अधर्मसंचय करनेकी अपेक्षा मरण ही मंगल है ऐसा निश्चय करके उसने युद्ध करनेका संकल्प छोड़ दिया था। उसके शोकमोहको दूर करके धर्मयुद्धमें उसे प्रवृत्त करनेके निमित्त यह गीताका उपदेश भगवानने दिया है। कर्तव्य विमुखको कर्तव्यपरायण करनेके लिये गीताकी अवतारणा है। सामन्यतया गीतामें प्राणिगणके शोकमोहादि जो संसारके बीजभूत दोष हैं उसकी उत्पत्तिका कारण अविद्या है यह स्पष्ट किया है। शोक और मोहके उदय होनेसे विवेक-ज्ञान निवृत्त हो जाता है। इसी शोक और मोहके कारण अर्जुन स्वधर्म-क्षत्रियका धर्म त्याग करनेको उद्यत हुआ! इसी शोक और मोहके कारण प्राणिमात्र स्वधर्म त्याग कर परधर्म अथवा अधर्ममें प्रवृत्त होते हैं। अथवा स्वधर्मपालनकी आवश्यकताको यथार्थरूपमें नहीं समझनेसे स्वधर्ममें जो प्रवृत्ति होती है, वह भी फलाभिसंधिमूलक और अहंकारपूर्वक। इसका परिणाम क्या होता है? कभी धर्माचरणमें और कभी अधर्माचरणमें प्रवृत्ति होती है। इस धर्माधर्मका फल सुख दुःख प्राणिमात्रको भोगना ही पड़ता है इन सुख दुःखोंके भोगके लिये वार वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। बस यही संसार है जो अहंता ममताका कारण कहा जाता है। आत्माके स्वरूपको यथार्थरूपमें हम जबतक नहीं समझते, स्वधर्मका पालन और अधर्मका त्याग हम जब तक नहीं करते, स्वधर्मपालनमें भी हम जब तक कर्तृत्वाभिमान और फलतृष्णाका त्याग नहीं

कर सकते, तब तक इस संसारमें आना पड़ेगा और इस अध्यायमें वर्णित शोक मोहसे बढ़े हुए विषादका भी हमें अनुभव करना पड़ेगा। शोक और मोह क्यों होता है? और उससे युक्त मनुष्य किस प्रकार विषादग्रस्त होता है यह इस अध्यायमें अर्जुनकी दशाका वर्णनकर स्पष्ट किया गया है।

एक बात यहांपर ध्यान देने योग्य है कि सञ्जय अर्जुनकी निश्चेष्टता और अप्रसन्नताको देखकर अर्जुनको "शोकसंविग्न मानसः" कहता है; किन्तु वास्तविकमें अर्जुनके अन्तःकरणमें सत्वगुणका प्रभाव पड़ा है। वह धर्मशास्त्रमें दिये हुए साधारण उपदेशका अनुसंधानकर आत्मीयजनवध और गुरुजनोंका वध पाप समझकर विषादग्रस्त होकर उसने शस्त्र त्याग किया है। उसने अपनी सात्त्विकी बुद्धिसे युद्धनिवृत्तिको श्रेयस्कर माना है। धर्मबुद्धि ही उसके युद्धोपरामका कारण है, केवल आत्मीयगणके मरणके विषयको लेकर ही इतना क्षोभ और शोक नहीं है। हां इन आत्मीयजनोंके मरणसे धर्महानि होगी यह उसके शोकका तथा चित्तविकलताका प्रधान कारण है। सामान्य मनुष्योंको अपने मरणका भय होता है, और उससे और अच्छे मनुष्योंको आत्मीय एवं गुरुजनोंके मरणके निमित्त शोक होता है, अर्जुनके शोकका कारण ये दो न होकर तीसरा ही है और वह सनातन धर्मका नाश! धर्मकी मर्यादा तथा विधियोंका क्षय! अर्जुनके कथनका पूर्वापर सम्बन्ध देखकर उसके "शोक संविग्नमानस" होनेमें तथा 'शस्त्रत्याग' में उस धर्मसम्बन्धी विचार ही प्रधान कारण मालूम होता है।

अब अर्जुनके कथनोंसे वह विषादग्रस्त तो है ही; किन्तु इसमें उसका वैराग्य (मन्दवैराग्य) स्पष्ट होता है और मधुसूदन सरस्वतीने तो लिखा है कि अर्जुनके इस भाव अथवा आचरणने ही गीताके ज्ञानोपदेशका अथवा मोक्षका अधिकारी बनाया है, हम उसको भी यहां पर उद्धृत करदेना उचित समझते हैं।

विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताऽखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरेवा काम्यनिषिद्धवर्ज्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिक प्रायश्चितोपासनानुष्ठानेन निर्गत निखिलकल्मषतया नितान्त निर्मल स्वान्तः साधन चतुष्टय सम्पन्नः प्रमाता।

१ विधिपूर्वक वेदादि अध्ययनके द्वारा वेदार्थमें कुछ अभिज्ञता।

२ इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरके लिए पुत्रेषणादि काम्यक्रिया और ब्रह्महत्यादि निषिद्धकर्मका त्याग।

३ नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्तादि अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि।

४ शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान यह छः प्रथम साधन, इहामुत्रफलभोगविराग ये द्वितीय साधन, नित्य-नित्य वस्तुविवेक तृतीयसाधन और मुमुक्षुता चतुर्थसाधन। इन साधन चतुष्टय सम्पन्न ज्ञानमें अधिकारी होता है।

अर्जुनके बचनोंसे उसका अधिकार इस प्रकार स्पष्ट होता है।

१ 'किं नो राज्येन गोविंद' इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट होता है कि वाह्य विषयोंसे अर्जुनके मनका निग्रह हो गया है इसका नाम शम।

२ 'किं भोगैः' इत्यादिसे बाह्यविषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह विदित होता है यह दम।

३ 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' इत्यादि वाक्योंमें अर्जुनकी निर्लोभिता मालूम होती है यह उपरति ।

४ 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' इत्यादि वाक्योंसे अर्जुनकी द्वंद्वसहिष्णुता अथवा तितिक्षा प्रकट होती है ।

५ 'न कांक्षे विजयं कृष्ण' इत्यादि वचनोंमें ऐहिकफल वैराग्य स्पष्ट होता है ।

६ 'अपि त्रैलोक्य राज्यस्य' इत्यादि वचनोंमें पारलौकिक फल वैराग्य ।

७ 'नरके नियतं वास' इत्यादि कथनमें स्थूल देहातिरिक्त आत्माका बोध ।

८ 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' इत्यादि कथनोंसे भिक्षाचर्य्या-सन्यासकी तत्परता ।

९ न च श्रेयोऽनुपश्यामि इत्यादि वाक्योंसे 'आत्म ही श्रेयरूप है इससे अर्जुनको नित्यानित्यवस्तुका विवेक है ।

संक्षेपमें अर्जुन शूरवीर है, उसे अपने बाहुबल पर तथा शस्त्रोंपर पूरा भरोसा है, पराजयकी तो उसकी कल्पना ही नहीं, मरणका भी भय नहीं, भय है केवल पापका । वह पापसे बचना चाहता है । जीवनकी अपेक्षा मरणको स्वीकार करता है; किन्तु धर्मशास्त्रके विरुद्ध पापाचरण करना वह नहीं चाहता, अर्जुन आस्तिक है, परलोकको मानता है, वर्णव्यवस्थाको मानता है, स्त्रियोंकी पवित्रता चाहता है, स्त्रियां दुष्ट हों, प्रजा वर्णसंकर हों, पितृगणकी श्राद्धादि क्रिया ठीक न होनेसे उनके पतनका भी विचार ये सब अर्जुनके विचार एक धार्मिकपुरुषके समान

विचार हैं । हम अर्जुनको शूरवीर धर्मवीर मानते हैं, अर्जुनका विषाद भी योग है उसको ज्ञान श्रवणका अधिकारी मानकर भगवानने उसे ज्ञान दिया, उससे अपने अवतारका हेतु सिद्ध कराया है । अर्जुनको निमित्त बनाया है और उसको ऐसा दृढ़ ज्ञान दे दिया है कि उसको इस युद्धकर्ममें पाप स्पर्श नहीं कर सकता । आगे चलकर शोकमोह भी निवृत्त हुआ और स्वधर्म पालनके साथ भगवानकी प्रसन्नता तथा प्राप्ति प्रभृति सभी लाभ हुए हैं यह सब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिका तथा उनकी दयाका प्रभाव है । बोलो भक्त भगवानकी जय ! ॥४६॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

श्रीगीतार्थप्रकाश-ग्रन्थमाला ।

१ श्रीभगवद्गीताका सविस्तर विवेचन इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित करनेका प्रबन्ध किया गया है। प्रथमाध्यायका विवेचन संक्षेपमें लिखा गया है। आप इस विवेचनको आद्योपान्त क्रमशः पढ़कर लाभ उठावें। २५० पृष्ठका यह भाग आपके समीप है।

२ द्वितीयाध्यायका प्रकाशन हो रहा है वह भी शीघ्र प्रकाशित होगा। द्वितीयाध्याय-सांख्य योगमें शोक संतप्त अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ब्रह्मविद्याका उपदेश देते हुए जो कुछ कहा है उसपर प्रायः सभी विद्वानोंके तथा महात्माओंके विचारों पर मनन करके प्रत्येक उपदेशका स्पष्टिकरण किया है। तीन मासके भीतर वह भी आपको मिल जायगा। मूल्य पृष्ठके अनुमान पर रहेगा।

एक वर्षमें ८०० पृष्ठका प्रकाशन होगा वार्षिक मूल्य ४) पोस्टेज सहित है। स्थायि ग्राहक बनकर लाभ उठावें।

पण्डित श्रीमाधवशर्मा.

३५, १३, जंगमबाड़ी, काशी।